मुद्रक—शिवनन्दन शर्मा, हिन्दी प्रेस, प्रयाग

प्रथम संस्करण, संवत् २००० वि०, तदनुसार १९४३ ईसवी

समर्पण

ब्रजमाधुरी के अनन्य उपासक और 'कल्याण'-सम्पादक

श्रीहनुमान प्रसाद पोद्दार को

अत्यन्त स्नेह और श्रद्धा के साथ

—किशोरीदास वाजपेयी

होति खड़ी बोली खरी, ब्रजभाषा के जोग ;
सो तिनकौं भावै नहीं, जिन स्रौननि कछु रोग।

आत्म-निवेदन

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डाक्टर बाबूराम सक्सेना, डाक्टर 'रसाल', पं० चन्द्रमौलि सुकुल और पं० कामता प्रसाद गुरु आदि जिन विद्वानों के व्याकरण अथवा भाषाविज्ञान-सम्बन्धी मतों का खंडन इस पुस्तक में किया गया है, उनके व्यक्तित्व और विद्वत्ताके प्रति मेरे हृदय में पूर्ण सम्मान है और पं० कामताप्रसाद गुरु को तो उन विभूतियों में समझना चाहिए, जिन्हें मैं श्रद्धेय कोटि में रखता हूँ। आपके द्वारा उन दिनों हिन्दी की ठोस सेवा हुई, जब इसे कोई पूछता-पछोरता न था। आप आचार्य द्विवेदी के प्रधान सहयोगियों में हैं और हिन्दी की निःस्वार्थ सेवा की है। इसलिए आप जैसे मौन-अध्यवसायी महापुरुषों के चरणों में इस पीढ़ी के हम लोगों का सिर अपने आप झुक जाता है। आपके मतों की आलोचना केवल भाषा-परिष्कार की दृष्टि से की गयी है; क्योंकि एक मात्र उद्देश्य वही है। सम्भव है, मेरे मत की भी इसी तरह आलोचना हो; और होनी ही चाहिए। तभी कुछ सार निकलता है—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'। आँख मूँद कर चलते रहना साहित्य के लिए श्रेयस्कर नहीं है। सदा ही परीक्षण-विवेचन जारी रहना चाहिए।

सो, सारस्वत कर्तव्य समझ कर ही विद्वज्जनों की, मित्रों की और पूज्य जनों की कृतियों तथा मतों की आलोचना हुई है। इस लिए, इस जन पर जो प्रेम अब तक रहा है, वही रहना चाहिए। हाँ, इस पुस्तक में प्रदर्शित तत्त्वों और सिद्धान्तों की कठोर परीक्षा अवश्य होनी चाहिए; क्योंकि साहित्य में—

'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'।

प्रचलित भ्रान्त धारणाओं को दूर करना और अपनी नयी बात समझाना, ये दो काम साथ-साथ करने पड़े हैं; अतएव अनेक

जगह कई-कई तरह से बातें दुहराई गयी हैं। इस तरह जानबूझ कर की गयी पुनरुक्ति शास्त्रीय भाषा में 'अभ्यास' कहलाती है।

इसके लिखने में जो कुछ श्रम और चिन्तन किया गया है, उसकी सफलता तभी है, जब विद्वज्जनों का कुछ आकर्षण हो—

'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि'

पुस्तक में निःसन्देह छापे की गलतियां रह गयी हैं, जिसका हमें दुःख है। व्याकरण-संबन्धी पुस्तक में तो एक भी गलती न रहनी चाहिए। ऐसी गलतियों से कहीं वस्तु-भ्रम भी हो सकता है; परन्तु प्रकरण और स्पष्ट विवेचना से सब खुलासा होजाता है। फिर भी, यदि कहीं भ्रम रह जाय, तो पत्र-लिख कर स्थिति स्पष्ट की जा सकती है।

इसके छापने में हिन्दी प्रेस (प्रयाग) के मालिक पं० शिवनन्दन शर्मा ने जो तत्परता दिखायी है, उसके लिए उन्हें धन्यवाद! आप सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी स्वर्गीय पं० रामजी लाल शर्मा के सुयोग्य उत्तराधिकारी हैं। स्वर्गीय शर्मा जी ब्रजभाषा के परम प्रेमी और स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा के घनिष्ठ मित्र थे। संभव है, उक्त शर्मा-द्वय की महान् आत्माओं का यह आकर्षण हो कि यह 'ब्रजभाषा का व्याकरण' हरिद्वार से प्रयाग जाकर इस प्रेस में छपा।

विषय-सूची

भूमिका १—१०३

पुस्तक

भूमिका

व्रजभाषा हिन्दी में एक प्रधान 'बोली' है, जिसे सबसे पहले साहित्यिक रूप मिला। 'अवधी' आदि उसकी अन्य बहनों को बाद में यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। यहाँ तक कि हिन्दी की जिस 'बोली' को आज 'राष्ट्रभाषा' का शीर्ष पद मिला है, वह (मेरठी) 'बोली' भी व्रजभाषा के बाद ही साहित्य-मन्दिर में आई।

व्रजभाषा का व्याकरण लिखने से पहले हमें तीन बातों पर उड़ती नजर डाल लेनी है १—व्याकरण का सामान्य स्वरूप, २—भाषा और ३—हिन्दी के प्रचलित व्याकरण। जब त.. तीन तत्त्वों को सामने न रखेंगे, प्रकृत तत्त्व समझ में न आयेगा। हम देखेंगे, व्याकरण क्या चीज है? हिन्दी की परम्परा क्या है? उसके प्रचलित व्याकरण कैसे हैं? क्या वे सब पूर्ण और सही हैं? व्रजभाषा का रूप क्या है? इसकी स्थिति क्या है? इन सब बातों पर जब तक विचार न कर लेंगे, अपने उद्देश में सफल नहीं हो सकते।

विशेष रूप से हमें हिन्दी के प्रचलित व्याकरण देखने पड़ेंगे। कारण, हिन्दी की ही एक 'बोली' व्रजभाषा है। यदि लड़कपन में हमने हिन्दी के प्रचलित गलत व्याकरण पढ़े हैं और उनके मन-गढ़न्त ऊटपटाँग 'सिद्धान्त' रट लिये हैं, तब

ब्रजभाषा-व्याकरण के निर्माण और बोध में गड़बड़ी पड़ेगी। झमेला पैदा हो जायगा। इसलिए, हिन्दी के प्रचलित व्याकरणों को आलोचनात्मक दृष्टि से हमें यहाँ देखना होगा।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अभी तक हिन्दी का कोई व्याकरण बना ही नहीं, जिसे 'सही' कहा जा सके। काशी की 'सभा' द्वारा नियुक्त जिस निर्णायक समिति ने पं० कामता प्रसाद 'गुरु' के 'हिन्दी-व्याकरण' को सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण बतलाया था, उसमें स्व० आचार्य द्विवेदी जी भी थे। और 'गुरु' जी के व्याकरण को आपने भी 'पास' कर दिया था। परन्तु वह भी अनेक अंशों से गलत है। आचार्य द्विवेदी जी ने भी एक पत्र में यह स्वीकार भी किया था। यदि यह विषय छोड़ दिया जाय, तब 'ब्रजभाषा का व्याकरण कच्ची नींव पर रहेगा।

व्याकरण का रूप

व्याकरण उस शास्त्र का नाम है, जिसमें भाषा के अंग-प्रत्यंग का पूर्ण विवेचन किया जाता है। भाषा का पूर्ण ज्ञान ही इसका फल है। कुछ लोगों ने व्याकरण का यह लक्षण लिखा है—"जिससे हम भाषा का शुद्ध लिखना और बोलना सीखते हैं, उसे व्याकरण कहते हैं।" यह लक्षण गलत है। भाषा का शुद्ध बोलना तो माँ से या घर के दूसरे लोगों से सीखा जाता है और शुद्ध लिखना गुरु से। परन्तु माँ बाप या गुरुजन आदि 'व्याकरण' नहीं हैं। जिसकी जो भाषा है, वह उसे अपने संसर्ग में रहने वालों से ही सीखता है और शुद्ध सीखता है। उस

समय वह व्याकरण की किसी पुस्तक से काम नहीं लेता। किसी भी देश या समाज का बच्चा, अपनी उत्पत्ति से तीन-चार वर्ष के भीतर्-भीतर, अपनी भाषा अनायास सीख लेता है। उसे वह ठीक बोलता भी है। व्याकरण जिसने नहीं पढ़ा, वह निरक्षर हिन्दी-भाषी मजदूर भी 'मुझे घर की दीवार बनानी है' ऐसा ही बोलेगा। व्याकरण का आचार्य भी इस वाक्य का इसी तरह प्रयोग करेगा। व्याकरण पढ़ कर कुछ विभिन्नता न आ जायेगी। तब यह कहना कैसे ठीक कहा जाय कि 'व्याकरण उस विद्या का नाम है, जिससे हम भाषा का शुद्ध बोलना जानते हैं।' हाँ, जो जिसकी मातृ-भाषा नहीं है, वह उसके सीखने में और उसका शुद्ध प्रयोग करने में अवश्य व्याकरण का सहारा लेगा। किसी अहिन्दी-भाषी को हिन्दी-व्याकरण की सहायता लेनी ही पड़ेगी, यदि वह इसे सीखेगा। परन्तु यदि वह हिन्दी-भाषी जनता के बीच में रह-बस जायगा, तब हिन्दी सीखने में उसे व्याकरण की अनिवार्य आवश्यकता न होगी। हिन्दी उसे स्वभाविक रीति से आ जायगी।

भाषा प्रधान है और व्याकरण उसका अनुगामी या विवेचक है। हम अपनी भाषा जिस रूप में और जिस तरह बोलते हैं, वही शुद्ध है। उसके उसी रूप के तात्त्विक विवेचन का नाम व्याकरण है। व्याकरण से परभाषा-भाषी हमारी भाषा सीखने में सहायता पाते हैं और हम अपनी भाषा की विवेचना से आनन्द का अनुभव करते हैं।

हम सब लोग आम के मीठे फलों का रसास्वाद लेते हैं। इसके लिए यह जरूरी नहीं होता कि पहले हम वनस्पति-विज्ञान का अनुशीलन करें और यह जानें कि आम की गुठली जब जमीन में दबा दी जाती है, तब वह किस तरह और क्यों एक अंकुर देती है, वह अंकुर किस तरह वृक्ष रूप में परिणत हो जाता है। फिर उस पर फूल किस प्रक्रिया से किस तरह आते हैं। वे फूल कैसे फल बन जाते हैं। उन छोटे फलो में पहले कड़वा रस क्यो होता है, फिर खट्टा और बाद में मीठा कैसे हो जाता है! इन सब बातो के जाने बिना भी हम मजे से मीठे फलों का स्वाद लेते हैं; ठीक उसी तरह, जिस तरह एक वनस्पति-विज्ञान का पंडित। उसके और हमारे रसास्वाद में कोई अन्तर नहीं; इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वह उस मीठे फल के पूर्ण इतिहास से भी परिचित है। जब मीठा फल उसके सामने आता है, तब उसके सामने वे सब बातें भी आ जाती हैं, जो हमे नहीं मालूम। उस जानकारी का जो मजा उसे आता है, उससे हम कोसों दूर हैं। यही हम दोनों में अन्तर है।

इसी तरह एक आदमी तो ऐसा है, जो अपनी भाषा का व्यवहार ही जनता है, उसके विवेचन या व्याकरण से शून्य है। दूसरा उस भाषा के व्यवहार के साथ-साथ उसके पूर्ण विवेचन का भी आनन्द लेता है, व्याकरणज्ञ भी है। तो, इस दूसरे व्यक्ति में कुछ विशेषता हुई कि नहीं ?

सारांश यह कि व्याकरण भाषा के विवेचन का नाम है।

भाषा पहले बनती है, व्याकरण उसके बाद। जैसी भाषा है, वैसा व्याकरण बनाया जाता है; व्याकरण के अनुसार भाषा नहीं।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति

यह हिन्दी का व्याकरण है। यानी इस पुस्तक में हिन्दी भाषा का स्वरूप-विवेचन किया जायगा। इसलिये पहले इस भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर कुछ पंक्तियाँ लिखना अनावश्यक या अप्रासंगिक न होगा।

अधिकांश लोगों का ख्याल है कि संस्कृत से हिन्दी की उत्पत्ति हुई। संस्कृत से मतलब उस भाषा से है, जिसमें कालिदास आदि ने 'रघुवंश' आदि की रचना की है। यह संस्कृत भाषा कई रूपों में होती हुई यहाँ तक पहुँच कर स्थिर हो गई है। वैदिक संस्कृत, 'ब्राह्मण' या 'उपनिषद' काल की संस्कृत और उसके बाद आधुनिक संकृत, जिसमें 'रघुवंश' आदि की रचना है। संस्कृत भाषा की यह वाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था का मोटे रूप में खुलासा है; यद्यपि इसके अन्य भी अवस्था-भेद हो सकते हैं। सस्कृत भाषा अपनी तीसरी अवस्था में पहुँच कर खूब चमकी, इसमें सन्देह नहीं। इसके आगे उसका स्वरूप-विकास या परिवर्तन विलकुल रुक गया। पाणिनि ने अपने व्याकरण से उसे पूर्ण सुसयत कर दिया। उसी संस्कृत से हिन्दी निकल आई, ऐसा साधारण जन समझते हैं।

वस्तुतः यह धारणा भ्रमात्मक है। 'अहं कर्म करोमि' से 'मैं काम करता हूँ' एकदम कैसे निकल पड़ा? इसकी कोई शृङ्खला नहीं है। सस्कृत तो अन्त में आकर एकदम व्यवस्थित तथा नियन्त्रित हो गई। अच्छी तरह पढ़े विना वह आ नहीं सकती थी। सब लोग उसका व्यवहार नहीं करते थे। बड़े-बड़े विद्वान् ही उसमें कुछ पढ़ लिख सकते थे। ऐसी दशा में उसका एकदम प्रचार जनता मे कैसे हो गया? और वह हिन्दी के रूप में किस तरह आ गई?

वस्तुतः संस्कृत भाषा हिन्दी की 'जननी' नहीं; बल्कि पूज्य और सुसंस्कृत बहन कही जा सकती है। एक ही मूल स्रोत से निकली हुई ये दोनों भाषाएँ हैं। इसीलिए अब तक हिन्दी का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है और सदा रहेगा। इस बात को हम कुछ विस्तार के साथ कहे देते हैं।

अब से बहुत पहले, सृष्टि के आदि काल में, मनुष्य की एक भाषा थी, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में। जब मानव-समाज में ज्ञान की वृद्धि हुई, तब उस आदि भाषा में साहित्य की भी सृष्टि होने लगी, ऋषि जन वेद-मंत्रों की रचना करने लगे। साधारण बोल-चाल की भाषा की अपेक्षा साहित्य की भाषा कुछ विशिष्ट हो जाती है; क्योंकि इसमें कुछ बनाव-सिंगार भी आ जाता है, कुछ सावधानी भी इसके प्रयोग में रखी जाती है। साधारण जनता बोलचाल में ऐसी बारीकी पर नहीं जाती, अपना काम निकालती है। भाषा के ये दो रूप आप चाहे जहां देख सकते हैं। हिन्दी,

अंग्रेजी, मराठी आदि सभी भाषाओं का 'प्रकृत' र 'साहित्यिक' रूप अलग-अलग दिखायी देगा। भाषा का वह 'प्रकृत' रूप एक कुदरती जंगल के समान है और 'साहित्यिक' रूप बनायी-संवारी सुन्दर वाटिका के समान। वृक्ष-लताएँ आदि दोनों जगह समान होने पर भी इनके विन्यास में अन्तर होगा। वाटिका की सुव्यवस्थित पंक्तियाँ, सड़कें, आलवालादि जंगल में कहाँ? और जंगल के वे कान्तार प्रदेश, वह बीहड़पन, वे नदी-नाले आदि वाटिका को प्राप्त नहीं। यदि किसी जंगल को वाटिका का रूप दे दिया जाय, तो कितना परिवर्तन आ जायगा? इसी तरह कोई प्राकृत या जनभाषा साहित्य में आ कर एक नया तथा आकर्षक रूप धारण कर लेती है।

जब उस 'आदि भाषा' में वेदों की रचना होने लगी, सहित्य बनने लगा, तब शब्द-प्रयोग आदि पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। तब इसका व्याकरण भी बना। देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की—आप हमारी इस भाषा का व्याकरण बना दें। 'ऐन्द्रवायव-ग्रह ब्राह्मण' में यह मंत्र है:—

'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीत् वरं वृणै। नामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वाक्।'

यानी पहले इस 'भाषा' का कोई व्याकरण न था, प्रकृति-प्रत्यय, आदि का विभाग-विवेचन न था। तब देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की 'इमां नो वाचं व्याकुरु' आप हमारी इस भाषा का

व्याकरण बना दें। इन्द्र ने देवों की प्रार्थना स्वीकार कर ली और इस भाषा को बीच से तोड कर—प्रकृति-प्रत्यय, पद-वाक आदि के रूप में टुकड़े कर के—पूरा व्याकरण बना दिया। तब से यह भाषा 'व्याकृत' हुई।

इससे जान पड़ता है कि अति प्राचीन काल में ही ऋषियों ने व्याकरण-विज्ञान का विकास कर लिया था और संसार में सब से पहले इसी देश में इस शास्त्र की रचना हुई।

खैर, जब पढ़े-लिखे लोगो की एक ऐसी सजायी-सँवारी भाषा बन गयी, तब साधारण जनता से वह कुछ पृथक् हो गयी। व्याकरण बनने से पार्थक्य और बढ़ गया; क्योंकि सब लोग तो उन नियमों की परवा करते नहीं। फलतः उस 'आदि भाषा' के दो रूप हो गये। जो 'प्रकृत' रूप था, जिसे सब लोग बोलते थे, उसे 'प्राकृत' कहने लगे। और, जो भाषा पढ़े लिखे लोगो की थी, जिसमें वेदादि की रचना होती थी, उसे 'संस्कृत' नाम मिला; क्योकि उसका संस्कार हो चुका था, वह सुसंस्कृत विद्वानों की 'साहित्यिक' भाषा थी।

भाषा का स्वरूप सदा बदलता रहता है, जैसे संसार में प्रत्येक दूसरी वस्तु बदलती रहती है। बचपन में जो हमारा शरीर था, क्या वही अब बुढापे मे भी है? कह सकते है कि हाँ, वही है, पर वह बिलकुल नहीं है। बहुत अन्तर है। इसी तरह जीवित या व्यावहारिक भाषाओं में भी परिवर्तन हुआ करता है। यह परिवर्तन उच्चारण की विभिन्न-रूपता के कारण होता है।

उच्चारण में यह विभिन्नता देशकाल के भेद से होती है और इस प्राकृतिक गति से होती है कि आप को पता नहीं चल सकता ! हमारी हिन्दी में और बंगला भाषा में कितना अन्तर है ? दोनों भाषाएं स्पष्टतः अलग-अलग हैं। परन्तु यदि आप कानपुर से कलकत्ते को पैदल चले और प्रति दिन तीन-चार मील की यात्रा करें, तो आप को यह न मालूम होगा कि किस गाँव में कहाँ हिन्दी समाप्त हो कर ' बिहारी ' शुरू हुई और किस स्थान पर 'बिहारी' की सीमा समाप्त हुई तथा 'बगला' आयी। आप मजे से बंगला के क्षेत्र में पहुँच जायँगे और आसानी से, अपने आप यह भाषा आपको आ जायगी। वस्तुतः वह कानपुर की हिन्दी ही इस तरह बंगला भाषा से रूप में परिवर्तित सी जान पड़ेगी।

इसी तरह काल भेद सें भाषा-भेद होता है। जिस हिन्दी को आप आज इस रूप में देखते हैं, वह अब से दो सौ वर्ष पहले कुछ भिन्न रूप में थी और आगे दो सौ वर्ष बाद इसका रूप कुछ और ही रूप हो जायगा। उच्चारण में भिन्नता होती जाती है। लोग सुगमता की ओर दौड़ते है। इस प्रवृत्ति को कोई रोक नहीं सकता। यदि रोकने का उपाय व्याकरण आदि से किया जायगा, तो साधारण जनता पर उसका कुछ भी असर न होगा। भाषा बराबर परिवर्तन की ओर बढ़ती जायगी; पर अत्यन्त धीरे-धीरे। यदि आठ-दस सौ वर्ष का कोई व्यक्ति अभी तक जीवित रहता, तो उसे यह बिलकुल न मालूम रहता कि हिन्दी कैसे बन गई, कब बन गई ! यह

परिवर्तन बोलचाल की भाषा में अवश्य होता है, जिसे 'जीवित' या 'व्यावहारिक' भाषा कहते हैं। 'साहित्यिक' भाषा में यह परिवर्तन बहुत कुछ रुक थम जाता है; क्योंकि सब लोग व्याकरण आदि के नियमों का अनुसरण करके एक-सा पढ़ते-लिखते हैं।

तो, जब उस 'आदि भाषा' के वे दो रूप 'प्राकृत' तथा 'संस्कृत' हो गये, तब प्राकृत अपने रास्ते आगे बढ़ती गयी, उसमें परिवर्तन होता गया। इसी परिवर्तन को भाषा-विज्ञान में 'विकास' कहा जाता है। कली का विकसित रूप ही फूल है। स्कूल के कुछ अध्यापक छात्रों को प्रश्न दिया करते हैं:—'सूरज' और 'पीठ' के शुद्ध रूप लिखो।' ऐसा कहना गलत है। 'सूरज' तथा 'पीठ' हिन्दी में 'अशुद्ध' रूप नहीं हैं कि इनके 'शुद्ध' रूप पूछे जायँ! हिन्दी में 'सूर्य' तथा 'पृष्ठ' की तरह 'सूरज' और 'पीठ' भी शुद्ध हैं। पूर्व के दोनों शब्दों का विकास ही बाद के दोनों शब्द हैं। कली का विकसित रूप पुष्प है, 'अशुद्ध' नहीं। प्रश्न करना चाहिए—'सूरज' तथा 'पीठ' किन शब्दों के विकसित रूप हैं? या 'इन शब्दों के मूल रूप बतलाओ।'

उस 'प्राकृत' भाषा का विकास होता गया। उससे दूसरे नंबर की प्राकृत हुई। इस दूसरी प्राकृत से 'अपभ्रंश' भाषाएँ बनीं और अपभ्रंशों से हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि भाषाएँ बनीं। वे अपभ्रंश भाषाएँ ही हिन्दी आदि के रूप में बदल गयीं।

इस तरह संकृत से नहीं, बल्कि प्राकृत से हिन्दी की उत्पत्ति हुई; प्राकृत की शाखा से ही इसका विकास है। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में भी साहित्य बना और इन के भी व्याकरण बने। परन्तु जनता में जो भाषा का प्रवाह था, उसने किसी का नियन्त्रण न माना और बराबर आगे बढ़ता हुआ आज इस रूप में हमारे सामने है। प्राकृत-सहित्य में तथा अपभ्रंश-साहित्य में प्रौढ संस्कृत साहित्य से बहुत कुछ लिया गया; क्योंकि मूल साहित्य-स्रोत तो वही है न? हिन्दी-साहित्य भी संस्कृत से प्रभावित है और प्रायः उसी के आधार पर है। परन्तु हिन्दी भाषा की उत्पत्ति सस्कृत से नहीं है। हाँ, दोनो भाषाएँ एक ही वंश की हैं; इस लिए इनकी बनावट में तथा प्रकृति आदि में समानता का होना स्वाभाविक है ही।

हिन्दी के विविध रूप

हिन्दी एक व्यापक भाषा है, जिस की 'बोलियाँ' बीसों हैं– मेरठी, कन्नौजी, अवधी, बुंदेलखडी आदि। भाषा की अनेक बोलियों में से एक को ले कर लोग उसे 'साहित्यिक भाषा' बना लेते और सब उसी में लिखते-पढ़ते है, जिससे विचार प्रसार में सहूलियत हो। जिस 'बोली' को कोई धार्मिक या राज-नैतिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है, वही प्रायः 'साहित्यिक भाषा' बन जाती है। कभी-कभी किसी 'बोली' की मधुरता आदि भी उसे साहित्य की भाषा बना देती हैं।

हिन्दी की उन 'बोलियों' में केवल तीन को ही विशेष रूप से 'साहित्यिक' रूप मिला है और उनके नाम हैं—१—ब्रजभाषा २—अवधी तथा ३—मेरठी, जो 'राष्ट्रभाषा रूप से गृहीत है और जिसमे ये पक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

ब्रजभाषा में काफी ऊँचे दर्जे का साहित्य है और बहुत दिन तक यह हिन्दी-भाषियो की साहित्यिक भाषा रही। अब भी थोड़ा बहुत साहित्य इसमें बनता जाता है; पर बहुत कम। ब्रज की 'बोली' क्यों एक व्यापक साहित्यिक भाषा बन गयी ? अन्य 'बोलियों' को छोड़ कर इसी को क्यों चुना गया ? इसके कारण है। एक तो यह ऐसे प्रदेश की बोली है, जहाँ भगवान् श्री कृष्ण ने जन्म लिया था। वैष्णव सन्तों का आकर्षण स्वभावतः इधर हुआ। कुछ यह 'बोली' मधुर भी है। वैष्णव सन्तों ने इस से कविता की और इसका ऐसा प्रचार हुआ कि देश भर में फैल गयी। बगाल, महाराष्ट्र तथा मदरास तक इसका प्रचार हुआ। इन दूर प्रान्त के सन्त कवियों ने ब्रजभाषा में रचना भी की। इस तरह हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में वैष्णावो के ब्रजभाषा-साहित्य ने अच्छी तरह भूमि तयार कर दी। आज भी आप दूर-दूर के प्रान्तो से गाये जानेवाले 'पक्के' गाने ब्रजभाषा के नित्य सुन सकते हैं, रेडियो पर सुनते ही है। साहित्य तो ब्रजभाषा का अनुपम है ही।

'अवधी बोली' में साहित्य-सृजन का पूर्ण श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को है। मलिक मुहम्मद जायसी आदि दो-चार

दूसरे कवियों ने भी अवधी में कुछ लिखा है; पर उसे वह महत्त्व प्राप्त नहीं। परन्तु 'अवधी' को वह व्यापकता न मिली, जो ब्रजभाषा को। गोस्वामी जी राम जी के उपासक थे और इधर के ही रहनेवाले भी; इसलिए इन्होंने 'अवध' की बोली' को ही महत्त्व दिया, चमका दिया। कहना चाहिए, केवल तुलसी से ही अवधी पूर्ण समृद्ध है। हीरा एक ही बहुत है। फिर भी गोस्वामीजी अवधी में ब्रजभाषा का मिठास न ला सके। कैसा भी अच्छा कारीगर हो, यदि हलवा बनाने के लिए उसे सूजी न देकर मामूली आटा दे दिया जाय, तो वह वैसी चीज कैसे बना सकेगा ? गोस्वामी जी अन्ततः ब्रजभाषा की ओर झुके और इसमें अपनी सरस रचना की। आचार्य द्विवेदी ने राष्ट्रभाषा को बल देने के लिए खड़ी बोली का समर्थन ऐसे जोर से किया कि ब्रजभाषा का राग दब गया। परन्तु वे इस मीठी भाषा का रसास्वाद न भुला सके, न छोड़ सके। जब 'सरस्वती'-सेवा से आपने बिदा ली और अपने सम्पादकत्व के अन्तिम अंक में 'सम्पादक की बिदाई' शीर्षक सुन्दर टिप्पणी लिखी, तब सब से अन्त में ब्रजभाषा की यह सूक्ति उद्धृत की थी—

'भागीरथी, हम दोष-भरे, पै भरोस यही कि परोस तिहारो'
बात यह कि द्विवेदी जी का गाँव (दौलत पुर) गंगा-तट पर ही है। उसी को ध्यान में रख कर उपर्युक्त सूक्ति उद्धृत की गयी थी। वैसे द्विवेदी जी प्रायः संस्कृत सूक्तियाँ उद्धृत किया करते थे। परन्तु अत्यधिक मार्दव तथा माधुर्य प्रकट करने के लिए

ब्रजभाषा ही उत्तम माध्यम है। इसीलिए देश भर ने इसे साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण किया था।

अवधी तथा ब्रजभाषा के अतिरिक्त हिन्दी की किसी दूसरी 'बोली' में कोई वैसा साहित्य नहीं है। थोड़ा-बहुत 'बुंदेलखंडी' में अवश्य है, जिसको ब्रजभाषा का ही एक रूप समझा जाता है।

तीसरी 'बोली' है 'मेरठी'। हिन्दी में इसे ही सब से बढ़ कर व्यापकता तथा महत्त्व प्राप्त हुआ है। यह हमारी राष्ट्रभाषा है। और 'हिन्दी' कहने से इसी का बोध साधारणतः होता है। इस 'बोली' को यह रूप प्राप्त होने में राजनैतिक कारण हैं। जब इस देश मे मुसलमानी राज आया, तब दिल्ली मेरठ को सैनिक केन्द्र बनाया गया। विदेशी मुसलमानो ने भी यही भाषा सीखी और इसी से अपना काम वे चलाने लगे। इसी का 'उर्दू' नाम रख कर देश भर मे प्रसार-विस्तार उन्होंने किया। जब कभी कोई हिन्दी-शब्द याद न आता, तब फारसी आदि का शब्द बोल देते थे। वे इसे अपनी उलटी लिपि में ही लिखने भी लगे। इस तरह हिन्दी का ही एक विकृत या कुछ विदेशीपन लिये हुए रूप 'उर्दू' है। उर्दू कोई न्यारी भाषा नहीं है, जैसा कि साधारण लोग समझा करते हैं।

अंग्रेजी राज्य आने के बाद हिन्दुओं ने भी मेरठी' बोली को साहित्यिक भाषा का रूप देना शुरू किया और फिर इसे राष्ट्रभाषा के रूप मे ग्रहण कर लिया गया।

इसी हिन्दी भाषा के व्याकरण पर विचार करना है। यह इतना प्रासगिक निवेदन हुआ।

भाषा का स्वरूप तथा अंग-विन्यास

'राम' 'लड़का' 'पढ़ता है' 'धीरे-धीरे' इत्यादि सार्थक शब्दों या पदों से वाक्य बनता है और अनन्त वाक्यों के समूह का नाम 'भाषा है। व्याकरण में भाषा के स्वरूप पर विचार होता है। इसका मतलब यह हुआ कि वाक्य, वाक्यांश, पद तथा पदांश का विवेचन ही व्याकरण का विषय है। पदो में संज्ञापद तथा क्रियापद प्रधान हैं। शेष विशेषण और विविध अव्यय आदि इनके ही सहारे हैं।

संज्ञा-पदों में जो 'को' 'ने' 'में' 'पर' आदि प्रत्यय लगाये जाते हैं, उन्हें 'विभक्ति' कहते हैं। क्रिया-पदों में जो प्रत्यय लगते हैं उनका कोई पृथक् नाम नहीं है। कभी-कभी उन्हें भी 'विभक्ति' कह देते हैं।

व्याकरण में इन पदों का विश्लेषण-विवेचन होता है। विभक्ति-रहित या प्रत्यय-रहित सार्थक शब्द को संस्कृत में 'प्रातिपदिक' कहते हैं।

जिस शब्द के आगे प्रत्यय लगाया जाता है, उसे 'प्रकृति' कहते हैं; क्योंकि असली चीज तो वही है। प्रत्यय तो उस प्रकृति में थोड़ा-बहुत परिवर्तन परिवर्द्धन भर कर देता है। आगे इन्हीं पदों पर विचार किया जायगा, जो भाषा के शरीर को बनाते हैं, या वाक्य-रूप में जिनके संस्थान को ही 'भाषा' कहते हैं।

शब्दों का स्वागत, शुद्धि और शासन

प्रत्येक जीवित भाषा में अन्य दूसरी भाषाओं के शब्द आ-आकर मिलते रहते हैं। हिन्दी के शब्द अंग्रेजी में गये हैं और अंग्रेजी के हिन्दी में आये हैं। इस तरह सदा ही यह आना जाना जारी रहेगा। फारसी आदि न जाने कितनी भाषाओं के शब्द आकर हिन्दी में घुल-मिल गये हैं। जब किसी भाषा का कोई शब्द दूसरी भाषा में जाकर अपने असली रूप में ही खप जाता है, तो वह 'तत्सम' शब्द कहलाता है। संस्कृत के पुस्तक, वस्त्र, भूषण, अन्न आदि शब्द हिन्दी में तत्सम' है। इसी तरह अंग्रेजी से आये हुए कोट, बटन, स्टेशन आदि शब्द यहाँ 'तत्सम' है। जिस रूप मे अंग्रेजी मे बोले जाते है, उसी रूप मे हिन्दी में भी। हिन्दी के वैय्याकरणों ने संस्कृत से आये तद्रूप शब्दों को ही तत्सम' बतलाया है, जो गलत है। किसी भी भाषा से आये हुए शब्द यदि अपने उसी असली रूप में मे अन्य भाषा मे मिल जायँ, तो वे सब 'तत्सम' हैं। किसी खास भाषा का कोई बन्धन नहीं है। अंग्रेजी के 'कोट' आदि तथा फारसी आदि के 'मकान' प्रभृति शब्द हिन्दी में तत्सम' हैं। इसी तरह हिन्दी के शब्द 'घी' 'धोती' आदि अंग्रेजी में 'तत्सम' प्रयुक्त होते हैं, इसी रूप मे। फारसी में भी हिन्दी के 'अभ्र' आदि शब्द 'तत्सम' रूप में गये हैं। 'खर' का उच्चारण वहाँ 'खर है; इसलिए इसे 'तत्सम' नहीं कह सकते। 'तत्सम' के बदले वैसे शब्दों को 'तद्रूप' कहा जाय, तो और अच्छा।

जो शब्द कुछ परिवर्तन होकर आते-जाते हैं, उन्हें 'तद्भव' कहते हैं। यह परिवर्तन भाषा के स्वरूप तथा प्रवाह के अनुसार होता है। हिन्दीभाषी जनता के उच्चारण-यंत्र ऐसे नहीं हैं कि अंग्रेजी के 'लैंटर्न' और 'हॉस्पिटल' आदि शब्दों को ठीक उसी रूप में आसानी से उच्चारण कर सकें, जिस रूप में वे अपने क्षेत्र में बोले जाते हैं। इसलिए प्राकृतिक नियम के अनुसार हिन्दी-क्षेत्र में आकर ऐसे शब्द आवश्यक परिवर्तन अपने रूप में कर लेते हैं और 'लालटेन' तथा 'अस्पताल' आदि बन जाते हैं। इस तरह के परिवर्तित शब्द हिन्दी-शब्दों में घुल-मिल जाते हैं, एक बिरादरी के बन जाते हैं। इसी तरह संस्कृत के भी अननुरूप शब्द परिवर्तित हो कर हिन्दी में आते हैं। 'पिपासा' यहाँ 'प्यास' बन गया और 'बुभुक्षा' 'भूख' हो गया। इतना परिवर्तन हो गया कि मालूम भी नहीं पड़ता कि पहले ये क्या थे ! हिन्दी का 'गंगा' शब्द अंग्रेजी में 'गैंजेज' बना। हमारा 'सप्त' फारसी में 'जाकर' 'हप्त' हो गया और 'सप्ताह' बन गया 'हप्ता'। इसी तरह 'मास' ने 'माह' का रूप बनाया और 'खर' हो गया 'ख़र'। इस तरह के परिवर्तित शब्दों को 'तद्भव' कहते हैं।

भाषा में तत्सम या तद्भव शब्दों का ग्रहण प्रकृति के अनुसार होता है। हमारे पं० जवाहर लाल नेहरू यहाँ कुर्त्ता-धोती सदा पहनते हैं; पर जब योरपीय ठंढे देशों का भ्रमण करने जाते हैं, तब तदनुरूप अपना वेश-विन्यास कर लेते हैं। इसी तरह शब्द भी देश-काल के अनुसार अपने वेश-विन्यास में परिवर्तन

करते हैं। जिनमें परिवर्तन की जरूरत नहीं; उनमें नहीं होता। 'कोट' 'बटन' आदि के उच्चारण में हमें कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती, इसलिए ये उसी रूप में यहाँ आ गये हैं—तत्सम। जिन शब्दों मे उच्चारण–काठिन्य है, उनमें परिवर्तन अनिवार्य है। अन्यथा, बिरादरी में मिलेगे कैसे ? दूर से अलग मालूम पड़ेंगे, खड़खड़ायेंगे।

जो शब्द जनता द्वारा 'तद्भव' रूप में गृहीत हुए हैं, उन्हें साहित्य भी उसी रूप में लेगा। हिन्दी-साहित्य में 'लैंटर्न' या 'हॉस्पिटल' या 'हस्पताल' लिखना गलत होगा। हाँ, यदि किसी अंग्रेज के उच्चारित वाक्य या शब्द को उसी रूप में प्रतिध्वनित करना हो, तब और बात है। तब 'तत्सम' प्रयोग होगा ही। या किसी अंग्रेजी वाक्य को नागरी लिपि में उद्धृत करना है, तब वैसा होगा। अन्यथा सर्वत्र 'तद्भव' रूप ग्रहण किया जायगा।

फारसी के शब्द जब हिन्दी में आते हैं, तब उनकी खड़-खड़ाहट मिट जाती है। वहाँ के 'काग़ज़' 'ज़रूरत' 'बाज़ार' आदि शब्द हिन्दी में 'कागज' 'जरूरत' 'बाजार' आदि रूप में बोले जाते हैं। आम लोग ऐसा ही बोलते हैं। इसलिए साहित्य में भी इनके इन्हीं तद्भव रूपों का प्रयोग करना चाहिए, तत्सम 'बाज़ार' आदि नहीं। नीचे बिन्दी लगा कर तत्सम रूप में प्रयुक्त करने से भाषा की क्लिष्टता बढ़ती है, भ्रम भी पैदा होता है। अनेक लोग संस्कृत से आये हुए तत्सम हिन्दी-शब्द 'कफ' तथा 'शाखा' आदि को 'कफ़' 'शाख़ा' जैसा लिखने लगे हैं ! 'कन्नौज'

ठेठ हिन्दी का शब्द भी 'कन्नौज' लिखा जाने लगा है ! यह सब अपनी भाषा के स्वरूप की विकृति है। इससे हटना चाहिए। बंगला तथा मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं में भी फारसी आदि के सैकड़ों हज़ारों शब्द प्रयुक्त होते हैं; पर नीचे बिन्दी लगाये बिना। हाँ, यदि फारसी का कोई वाक्य या पद्य आदि उद्धृत करना हो, या उर्दू का ही शेर देना हो, तब नीचे बिन्दी लगाकर अवश्य लिखिए।

कुछ लोग 'कागज' और 'जरूरत' आदि तद्भव रूप से शब्द-प्रयोग को गलत समझते हैं। यह उनकी भूल है। तब तो पीठ, घर, पत्ता आदि शब्द भी अशुद्ध समझे जायँगे और इन्हें छोड़कर 'पृष्ठ' 'गृह' 'पत्र' आदि लिखना ही अनिवार्य होगा। हाँ हिन्दी में 'पीठ' के साथ-साथ 'पृष्ठ' का प्रयोग भी होता है और होता रहेगा। संस्कृत का हिन्दी से जो सम्बन्ध है, वह किसी दूसरी भाषा का हो नहीं सकता। दूसरी भाषा के आये हुए कर्कश शब्दों का तद्भव रूप ही स्वीकार होगा।

जो लोग 'कागज' आदि को गलत समझते हैं, उन्हें हिन्दी या उर्दू (अथवा 'हिन्दुस्तानी') को बिलकुल तिलाञ्जलि ही देनी पड़ेगी; क्योंकि 'करता है' 'खाता है' 'पीता है' हँसता है; इत्यादि सभी क्रियाएँ प्राकृत क्रियाओं के तद्भव रूप हैं। तब फिर 'काग़ज़' लिखने का दुराग्रह क्यों ? क्या साधारण हिन्दी-भाषी जन 'काग़ज़' बोलते हैं ? आश्चर्य है, जो लोग हमारे 'खर' शब्द को उर्दू-फारसी में 'ख़र' लिखना—बोलना शुद्ध समझते

हैं, वे ही वहाँ के 'काग़ज़' को हिन्दी में 'कागज' रूप से प्रयुक्त करने में 'ग़लती' समझते हैं! यही तो बुद्धि का फेर है! यहाँ के 'छाया' तथा 'बिना' जैसे सरल शब्द, भी वहाँ 'साया' और 'बिला' हो जाते हैं। सो सब ठीक है। क्यों? तुलसी का 'राम गरीब-नेवाजू' गलत है! नीचे बिन्दी जो नहीं! समझ की बलिहारी है! हमारा 'सम' उर्दू में 'हम' ठीक है!

शब्दों का अनुशासन

जब किसी भाषा में दूसरी भाषा के शब्द जाकर मिलते हैं, तब उनका अनुशासन उसी भाषा के व्याकरण से होता है, जिसमें वे जाकर मिलते हैं। यदि कोई भारतीय फ्रांस में जाकर रहेगा, तो वहाँ के कानून की ही पाबन्दी उसे करनी पड़ेगी। वहाँ वह भारतीय कानून को न चला सकेगा। यही बात शब्दों में भी है। हिन्दी का 'धोती' शब्द जब अंग्रेजी में जायगा, तो वहाँ के व्याकरण के अनुसार चलेगा। तब बहुवचन में हिन्दी-व्याकरण के अनुसार 'धोतियाँ' न हो कर 'धोतीज़' होगा। इसी तरह अंग्रेजी-फारसी आदि से आये हुए शब्दों का अनुशासन यहाँ हिन्दी-व्याकरण से होगा। 'फुट' शब्द का बहुवचन हिन्दी में 'फीट' न होगा, 'फुट' ही रहेगा। 'चार फुट लम्बा' लिखा जायगा, न कि 'चार फीट लम्बा'। इसी तरह फारसी से आये हुए 'मकान' या 'कागज' का बहुवचन यहाँ 'मकानात' या 'कागजात' न होगा'। 'कागजात देख कर सब बतलाऊँगा' गलत है। 'कागज (या कागज-पत्र) देख कर सब बतलाऊँगा' ठीक

है। 'वकील' का बहुवचन 'वकला' हिन्दी में कितना बेढँगा है! 'वकला से सलाह लेनी चाहिए' यह भ्रष्ट प्रयोग है। 'वकीलों से सलाह लेनी चाहिए' ऐसा शुद्द प्रयोग है। इसी तरह 'बहुत से स्कूलस में ऐसा नहीं होता' ऐसे 'बबुआना' या अधकचरे प्रयोग भाषा को बिगाड़ते हैं। बोलचाल में ऐसे शब्द लाना अपनी भाषा को विकृत करना है। 'बहुत से स्कूलों में' ऐसा कहना—बोलना चाहिए। संस्कृत से आये हुए शब्दों का अनुशासन हिन्दी में कभी भी संस्कृत-व्याकरण से नहीं होता है—'राजाओं को धर्म करना चाहिए' इसे 'राजनः को धर्म करना चाहिए' इस तरह लिखना क्या ठीक है? तब फिर 'कागजात' को देख लेना चाहिए' यह कैसे ठीक? नियम तो एक ही होगा न? आपके 'वकला' को हिन्दी-भाषी जन-साधारण क्या समझेंगे, जिनके लिए भाषा-प्रयोग है? 'शायर' शब्द सब समझते हैं। जब हिन्दी-व्याकरण से इसका अनुशासन होगा, तब बहुवचन प्रयोग सब समझ लेंगे—'शायरों का दिमाग भी अजब होता है'। परन्तु हिन्दी-व्याकरण छोड़ कर विदेशी भाषा के व्याकरण का पल्ला पकड़ने से इसका बहुवचन 'शोरा' हो जायगा। 'शोरा' को हिन्दी-भाषी क्या समझेंगे? बारूद बनाने का उपादान? 'शोरा ने भी ऐसी तेजी दिखायी कि बस!' यहाँ 'शोरा' का क्या मतलब समझा जाय और कौन समझे? हिन्दी या उर्दू में यह भ्रष्ट प्रयोग है। इस देश की भाषा को इस देश के स्वाद में ढलना होगा। अन्यथा, यह फ़ारिस हो

जायगी और प्रवाह से दूर जा पड़ेगी। एक छूट जरूर है। जो शब्द रूढ़ हो गये हैं, जैसे 'आदाब अर्ज' या 'आदाबर्ज' उनका उसी रूप में प्रयोग होगा—'अदब अर्ज' आदि न होगा। यहाँ 'अदब' का बहुवचन 'आदाब' सह्य है।

यह सब लिखने का मतलब यह है कि दूसरी भाषाओं से जो शब्द तत्सम या तद्भव रूप में यहाँ आकर मिलेंगे, उनका पूर्ण शासन हमारे व्याकरण से होगा, जैसे कि ससार भर की भाषाओं में होता है। इससे उलटे जाना गलती है।

जो शब्द अपनी भाषा के पुश्तैनी हैं, किसी दूसरी भाषा से न आकर ठेठ आदि भाषा से विकसित होते चले आ रहे हैं, उन्हें 'निज' या 'स्वकीय' कहते हैं। इन्हीं को लोग 'देशज' भी कहते हैं। इस तरह हमारी भाषा में, या किसी भी दूसरी भाषा में, तीन तरह के शब्द होते हैं—निज, तत्सम, और तद्भव। कुछ लोगों ने 'अर्द्धतत्सम शब्द भी एक तरह के बतलाये हैं, जिनमें बहुत कम परिवर्तन होता है। परन्तु यों भेद बढ़ाना ठीक नहीं है। जिनमें परिवर्तन हो, थोड़ा या बहुत, वे सब 'तद्भव'। अन्यथा, परिवर्तन के पूर्ण, न्यून, न्यूनतर तथा न्यूनतम रूप को देख कर कितने ही और भेद करने पड़ेंगे, जो ठीक नहीं। जिनमें जरा भी परिवर्तन हुआ, वे 'तद्भव' हो गये। 'अर्द्धतत्सम' कोई चीज नहीं। 'कागज' आदि हिन्दी में तद्भव शब्द ही हैं और 'ख़र' आदि फारसी में हिन्दी के तद्भव।

इन तीन भेदों के अतिरिक्त रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़, 'ये

ीन भेद और हैं। उक्त निज, तत्सम और तद्भव शब्दों में
त्येक के रूढ़ आदि तीन-तीन भेद करने से नौ शब्द-भेद हुए।
न सबका अनुशासन उसी भाषा के व्याकरण द्वारा होगा,
जिसमें ये प्रयुक्त हों।

वाक्य-विन्यास

हिन्दी में वाक्य-विन्यास का ढँग बहुत सीधा-सादा है।
ाक्य में कम से कम एक पूर्ण क्रिया अवश्य होती है। उसके
बना वाक्य बन नहीं सकता। वाक्य-विन्यास इस तरह
ोना चाहिए कि मतलब समझने में श्रोता या पाठक को देर
 लगे।

वाक्य साधारणतः दो प्रकार के होते हैं—१ साधारण और
—मिश्रित। 'राम जाता है' साधारण वाक्य है। जब अनेक
ाक्यों को मिला कर एक वाक्य बनाया जाता है, तब उसे
मिश्रित' वाक्य कहते हैं। 'लड़की ने कहा कि राम जाता है'
ह एक वाक्य है; क्योंकि 'लड़की' से शुरू करके जाता है पर
ाकर मतलब पूरा निकलता है। परन्तु दो साधारण वाक्यों
ो मिला कर यह एक 'मिश्रित' वाक्य बना है और उन्हें 'कि'
 जोड़ रखा है। जैसे गेहूं और जौ मिलकर 'गोजई' एक न्यारी
ीज बन जाती है और चने-गेहूँ का आटा मिल कर 'मिस्सा'
ाटा बन जाता है, वैसे ही ये 'मिश्रित' वाक्य हैं। परन्तु ऐसे
ाक्यों में कोई प्रधान रहता है, कोई अप्रधान। यह प्रधानता
ा अप्रधानता केवल प्रयोग को ध्यान में रख कर कही जाती

है और कुछ नहीं। ऊपर के मिश्रित वाक्य में 'कि' से पहले का वाक्य प्रधान है और अगला अप्रधान। अप्रधानता इसलिए कि वह उसका 'कर्म' है।

वाक्य के इन दो भेदों के अतिरिक्त एक भेद और है—'संयुक्त'। जब अनेक वाक्य एकत्र हों और किसी शब्द द्वारा जुड़े हों; पर वे सब प्रधान हों, तो 'संयुक्त वाक्य' कहलाते हैं'। 'राम जायगा और गोविन्द पढ़ेगा' यह संयुक्त वाक्य है। 'और' ने दोनों को जोड़ रखा है; पर दोनों प्रधान हैं।

मिश्रित वाक्य की बनावट ऐसी होनी चाहिए कि अर्थ-बोध में बाधा न पड़े और भाषा विकृत न हो। कुछ लोग अंग्रेजी भाषा की शैली पर हिन्दी-वाक्यों की रचना करके इसके स्वरूप को विकृत कर देते हैं! प्रत्येक भाषा के वाक्य-विन्यास की अपनी शैली होती है। उसी के अनुसार रचना होनी चाहिए। किसी दूसरी भाषा की शैली से किसी दूसरी भाषा का वाक्य-विन्यास करना अपनी अज्ञता का परिचय देना है। कुछ लोग हिन्दी के वाक्य ऐसे मिश्रित रूप में लिखते हैं, जो 'सांकर्य' दोष से दूषित हो जाते हैं। एक वाक्य के बीच में दूसरा वाक्य इस तरह से लाकर रख देना कि मतलब खटाई में पड़ जाय, बड़ी भारी गलती है।

अन्वय-बोध की सरलता का ध्यान रख कर मिश्रित वाक्यों की रचना करनी चाहिए। वैसे तो जहाँ तक हो सके, छोटे-छोटे सादे वाक्य अधिक अच्छे लगते हैं

वाक्य और महावाक्य

प्रत्येक शब्द या पद का अलग-अलग अर्थ होता है। वे सब 'पदार्थ' कहलाते हैं। किसी वाक्य में आये हुए विभिन्न पद अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हुए भी एक सम्मिलित अर्थ देने में मिल-जुल कर काम करते हैं। सब मिल कर एक पूर्ण 'वाक्यार्थ' उपस्थित करते है। 'पदार्थ' से 'वाक्यार्थ' एक न्यारी चीज है; यद्यपि उसी से निष्पन्न है और उसके बिना इसकी सत्ता रह नहीं सकती। जैसे सब अंग मिल कर एक 'शरीर' बनाते हैं और अपनी पृथक् सत्ता भी रखते हैं, उसी तरह पद-समूह से वाक्य बनता है। अंगों को अलग कर देने से 'शरीर' कुछ रह नहीं जाता; पर सब के मेल से यह एक भिन्न वस्तु बन गयी है। सारांश यह कि विभिन्न पद जब एक उद्देश्य से आते हैं, तो एक 'वाक्यार्थ' बनाते हैं।

जैसे अनेक पदों से एक वाक्य बनता है, वैसे ही वाक्यों से 'महावाक्य'। एक निबन्ध, कहानी, उपन्यास या महाकाव्य 'महावाक्य' ही है। बहुत से वाक्य मिलकर एक 'महावाक्य' बनाते हैं और एकार्थ का निष्पादन करते हैं। 'राम ने धर्मनिष्ठा का परिचय देकर धर्मराज्य स्थापित किया' यह 'रामायण' नामक महाकाव्य या 'महावाक्य' का अर्थ है। श्रीमद्भगवद्गीता एक 'महावाक्य' है। उस 'महावाक्य' का अर्थ है—'आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को पहचान कर कर्म-मार्ग पर चले चलो।' गीता के सब वाक्य इसी 'महावाक्यार्थ' में अन्वित हैं,

जैसे वाक्य में पद अन्वित होते हैं। आपने एक कहानी लिखी, जिसमें यह दिखाया कि किसान लोग बड़ी मुसीबत में हैं। तो, वह कहानी एक 'महावाक्य' है और, उस महावाक्य का जो अर्थ है—किसानों की दुर्दशा—उसी में सब वाक्यों का अन्वय होगा।

वाक्य में कोई भी ऐसा पद न आना चाहिए, जिसका वहाँ उचित उपयोग न हो। इसी तरह 'महावाक्य' में फालतू या विरुद्ध वाक्य का आना ठीक नहीं।

इन्हीं बातों को सोच कर 'वाक्य' या 'महावाक्य' की रचना करनी चाहिए और अपनी भाषा में व्याकरण या प्रवाह का ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा, भाषा गलत हो जायगी और आप वह ठीक-ठीक न कह पायेंगे, जो कहना चाहते है। या, आप जो कुछ जिस रूप में कहना चाहेंगे, उसे उस रूप में वे न ग्रहण कर सकेंगे, जिन के लिए आपका उद्योग है। श्रम व्यर्थ होगा। इसलिए, व्याकरण का ध्यान रहना ही चाहिए, जो प्रचलित भाषा-गति के सिवाय और कुछ नहीं है।

सन्धियाँ तथा ह्रस्व-विधान आदि

प्रत्येक जीवित और चालू भाषा मे बोलचाल के कारण शब्दों में सन्धियाँ हुआ करती हैं। इन शब्द-सन्धियों में कभी किसी शब्द-वर्ण में कुछ विकार हो जाता है, कभी लोप हो जाता है, कभी कुछ बढ़ जाता है, या द्वित्व हो जाता है। संस्कृत भाषा में इस प्रकार की शब्द-सन्धियाँ शायद सब से ज्यादा हैं और

सब वैज्ञानिक ढँग पर हैं, प्राकृतिक आधार पर। संस्कृत की बहुत सी सन्धियाँ हिन्दी में भी उसी रूप में प्रचलित हैं—गुण, वृद्धि, सवर्ण एकादेश आदि—महेश, महौषधालय, एकाधिपत्य। दूसरी भाषाओं में भी जाने-अनजाने कुछ ऐसी सन्धियाँ होती हैं, भले ही उन पर व्याकरण में विचार न किया गया हो।

संस्कृत से जो सन्धियाँ हिन्दी में आयी हैं, उनके अतिरिक्त इसकी कुछ अपनी भी सन्धियाँ हैं, जिनकी ओर हिन्दी-व्याकरणकारों ने ध्यान नहीं दिया है और इससे अहिन्दीभाषी हिन्दी-लेखक जन गलत भाषा लिख जाते हैं। हिन्दी-व्याकरण से उन्हें मदद नहीं मिलती। उदाहरण के लिए 'इसी ही लिए तो मैं कहता था कि काम न चलेगा।' यहाँ 'ही' अनावश्यक या पुनरुक्त है; क्योंकि 'इसी' में 'ही' भी मिला हुआ है—इस + ही = इसी। इसी तरह—उस + ही = उसी। यदि कभी बहुत ज्यादा जोर देना हो, तो दूसरा 'ही' आ भी जाता है, सो यह अलग बात है। इसी तरह 'कब + ही = कभी' आदि सन्धियाँ होती हैं। 'कभी' के बाद 'ही' का प्रयोग भी होता है—'कभी ही वह अवसर आता है।' सर्वनाम के 'ह' का प्रायः लोप हो जाता है, जब 'ही' के साथ उसकी सन्धि होती है—यह + ही = यही, वह + ही = वही। इसी तरह 'अन्यत्र समासादि' र और र मिल कर 'र' होता ही है।

कुछ हिन्दी व्याकरणों में संस्कृत की वे भी सब सन्धियाँ

लिख दी गई हैं, जिनका यहाँ कभी काम ही नहीं पड़ता; जैसेः— तौ+आगतौ=तावागतौ, चे+अन=चयन आदि। इस तरह की अनावश्यक सन्धियों से बीसों पन्ने भर दिये जाते हैं! और तो और, श्रद्धेय पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के 'अभिनव हिन्दी व्याकरण' में भी इस प्रकार की बेहद सन्धियाँ भरी देखीं! इस तरह भाषा से असम्बद्ध बातें व्याकरण में कभी न लिखनी चाहिए। भ्रम फैलता है, क्लिष्टता बढ़ती है और लाभ कुछ नहीं। हाँ, सस्कृत की जो सन्धयाँ हिन्दी में खूब प्रचलित हैं, उनका निरूपण तो जरूरी है ही और वे बहुत सरल भी हैं, बहुत जल्द आ जाती हैं। इस लिए, ऐसी प्रचलित और सुग्राह्य संस्कृत सन्धियों का ही हिन्दी-व्याकरण में निरूपण आवश्यक है।

वर्ण-लोप

जो वर्ण भली-भाँति श्रुत नहीं होता, उसका प्रायः लोप हो-जाता है, विकल्प से। 'रुपया' का बहुवचन 'रुपये' है; पर 'य' की स्पष्ट श्रुति न होने से उसका विकल्प से लोप हो जाता है। 'रुपए' और 'रुपये' दोनों ठीक हैं। इसी तरह—'गया' से 'गयी' और 'गई'। 'लिया' से 'लिए' और 'लिये'। स्त्रीलिंग में 'ई' परे होने पर 'नित्य' या अनिवार्य लोप हो जाता है लिया+ई=ली। स्वर-सहित 'या' का लोप, और 'लि' के 'इ' का प्रत्यय के 'ई' के साथ सवर्ण दीर्घ एकादेश। परन्तु अव्यय 'लिए' में 'य' का आगम नहीं होता, न श्रुत ही होता है;

इसलिए 'माधव पढ़ने के लिये जाता है' या 'तुम्हें ऐसा न चाहिये' इनमें 'य' गलत है। 'लिए' और 'चाहिए' चाहिए। इस तरह का वर्ण-लोप अन्यत्र भी 'खरीद्+दार=खरीदार' आदि में होता है।

भाषा की जो प्रकृति है, उसी का ध्यान रखना चाहिए।

सन्धि की अनिवार्यता

जब कोई उपसर्ग किसी क्रिया या संज्ञा आदि से जुड़ता है, तब सन्धि का होना आवश्यक है। बिना सन्धि किये लिखने से गलत होगा; क्योंकि भाषा-प्रवाह के विरुद्ध होगा। 'प्रत्युदाहरण' को 'प्रति-उदाहरण' नहीं लिख सकते, न ऐसा बोला ही जायगा। इसी तरह 'संचय' को 'सम्-चय' या 'अभ्युदय' को 'अभिउदय' नहीं लिखा-बोला जा सकता है।

समास में कहीं सन्धि अनिवार्य होती है, कहीं ऐच्छिक। 'छात्रावास' 'विद्यालय' आदि योगरूढ़ शब्दों में सन्धि अनिवार्य रूप से होगी। ऐसे शब्दों को सन्धि किये बिना बोलना-लिखना गलत होगा।

परन्तु अन्यत्र समस्त शब्दों में सन्धि करना या न करना ऐच्छिक है, लिखने में। बोलने में तो बड़े-बड़े समस्त पद आते ही नहीं और आते हैं, तो प्रायः सर्वत्र सन्धि के साथ। लिखने में विकल्प है ही 'महिलाभ्युदय' को 'महिला-अभ्युदय' भी लिखा जा सकता है। यह बात हिन्दी में ही है। संस्कृत में तो समास में सन्धि का होना अनिवार्य है!

हिन्दी में तो कभी-कभी समस्त पदों में सन्धि भाषा को बहुत अटपटा रूप दे देती है; इसलिए वहाँ उसे छोड़ देना ही ठीक है; सन्धि किये विना ही लिखना चाहिए। 'अरि-अभ्युदय' समस्त पद को सन्धि करके लिखने से 'अर्य्यभ्युदय' या 'अर्य-भ्युदय' होगा। यों सन्धि-समाश्रय से यह पद श्रवणकटु ही नहीं हो गया; बहुत अटपटा भी हो गया। इसलिए, ऐसी जगह सन्धि करना ठीक नहीं है।

कभी-कभी सन्धि के झोके में आकर गलत-सलत लिख दिया जाता है; जैसे—'स्त्रियोपयोगी'। यह 'स्त्रियोपयोगी' क्या हुआ? दो शब्दों का समास है 'स्त्री' और उपयोगी'। तब 'स्त्री+उपयोगी' का 'स्त्रियोपयोगी' कैसे हो गया? हाँ, यदि 'स्त्रिया' शब्द होता, तब जरूर 'उपयोगी' के साथ मिल कर 'स्त्रियोपयोगी' हो जाता। सो तो है नहीं। 'स्त्री+उपयोगी=स्त्र्युपयोगी, ऐसी सन्धि होगी, 'ई' को य् हो जायगा और वह (य्) अगले 'उ' में मिल जायगा। इस प्रकार शुद्ध सन्धि होने पर शब्द बेढ़ँगा हो जायगा। इसलिए बिना सन्धि के ही 'स्त्री-उपयोगी' लिखना ठीक है, या फिर 'महिलोपयोगी' आदि। 'स्त्रियोपयोगी' तो बिलकुल ही गलत है। हिन्दी या संस्कृत के सन्धि नियमों के अनुसार कोई भी अहिन्दी-भाषी इसमें 'स्त्रिया+उपयोगी' या 'स्त्रिय+उपयोगी' सन्धि निकालेगा और फिर इस अजीब 'स्त्रिया' या 'स्त्रिय' शब्द को कोष में ढूँढ़ेगा। वहाँ न मिलने पर फिर आपके सन्धि-नियम देखेगा और तब कहेगा—ओह! यह तो

सुप्रसिद्ध 'स्त्री' शब्द है, जिसकी सन्धि 'उपयोग' से गलत कर दी गयी है! इसी तरह भूल से 'सम्मत्यानुसार' वैदिक रीत्यानुसार' आदि सन्धि कर देते हैं।

सारांश यह कि सन्धि करने में व्याकरण-नियमों के साथ-साथ भाषा की गति पर भी ध्यान रखना चाहिए।

ह्रस्व-विधान

भाषा में शब्द (प्रयोग में) रूप बदल-बदल कर आते हैं। कभी कोई शब्द दीर्घ से ह्रस्व हो जाता है, कभी ह्रस्व से दीर्घ। खीझना, भूकना, थूकना आदि के आद्य स्वर प्रेरणा में ह्रस्व हो जाते हैं—खिझाना, भुकाना, थुकाना आदि। काटना, फाड़ना आदि का आद्य दीर्घ स्वर 'कर्मकर्तृ' में ह्रस्व हो जाता है—कटना, फटना आदि।

इसी तरह समास तथा तद्धित आदि में भी ह्रस्व का दीर्घ तथा दीर्घ का ह्रस्व हुआ करता है। 'एक' का 'इक' और 'पाँच' का 'पँच' हो जाता है—'इकतारा' 'पँचकौड़ी' 'इकलौता' 'इकट्ठा' 'सतनजा' 'अठकौंसिल' आदि। इस नियम का हिन्दी व्याकरणों में उल्लेख नहीं किया गया है और बड़े-बड़े हिन्दी-लेखक भी ऐसे शब्द लिखने में गलती कर बैठते हैं। गया के श्री मोहनलाल महतो (भूतपूर्व 'वियोगी') एक अच्छे कवि तथा लेखक हैं। बहुत अच्छा और उपयोगी लिखते हैं। परन्तु विवेच्य गलती उन्होंने भी की है। आपने अपनी एक पुस्तक का नाम 'एकतारा' रखा है! चाहिए था 'इकतारा'। इसी तरह कोई-कोई

'इकलौता' को 'एकलौता' और 'इकट्ठा' को 'एकट्ठा' लिख बोल देते हैं।

भाषा-प्रयोग में सन्धि या ह्रस्व-विधान आदि के नियमों का पालन अपने विवेक से भली-भाँति करना चाहिए। इस सम्बन्ध में असावधानी करने से भाषा विकृत हो जायगी।

हिन्दी-व्याकरण में इन नियमों का खूब स्पष्ट खुलासा होना चाहिए। अभी तक इधर ध्यान नहीं दिया गया है। जो करना चाहिए, उसे छोड़ दिया गया है और अनावश्यक बातें भर दी गयी हैं।

इस प्रकार यह सब लिखने का उद्देश्य तो वैय्याकरणों का ध्यान कुछ अनावश्यक बातों की ओर आकृष्ट करना भर है। प्रत्येक विषय का निरूपण करना और साङ्गोपाङ्ग विवेचन करके उदाहरणों सहित सब कुछ समझाना इस छोटी सी भूमिका-का उद्देश्य नहीं है।

विभक्ति और कारक

हिन्दी में विभक्तियों की संख्या बिलकुल कम है। 'ने' 'को' 'से' 'का' ('के'-'की') 'में' और 'पर'। विभक्तियों से 'कारक' आदि का बोध होता है। यदि ये विभक्तियाँ न हों, तो संज्ञा-मात्र से कुछ काम न चले।

कारक

'ने' आदि विभक्तियों से 'कारक' आदि का बोध होता है, यह अभी कहा गया है। इस पर जिज्ञासा होगी कि 'कारक'

किसे कहते हैं ? कारक का लक्षण बहुत स्पष्ट है—क्रिया के साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसे 'कारक' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार कारक छह हैं, जिन्हें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कहते हैं। एक-एक को लक्षण की कसौटी पर कस कर देख लीजिए।

कर्ता—'राम ने मुँह से रोटी खायी' इस वाक्य में 'राम' एक कारक है; क्योंकि उसी ने रोटी खायी है, 'खाना' क्रिया उसी के द्वारा निष्पन्न हुई है। 'खाने के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट है। इसीलिए वह कारक हुआ. कर्ता कारक।

कर्म—कर्म भी एक कारक है। उपर्युक्त वाक्य में 'रोटी' कर्म कारक है। क्रिया के साथ इसका भी सम्बन्ध है। क्या चीज खायी गई ?—'रोटी'।

करण—करण तीसरा कारक है। किससे खायी ? 'मुँह से'। इस तरह 'मुँह' का भी खाने से सम्बन्ध हुआ।

सम्प्रदान—'राम ने मोहन को अपने हाथ से लड्डू दिये।' इस वाक्य में राम' कर्ता कारक है; क्योंकि उसी ने लड्डू दिये हैं। 'देने के साथ उसका कर्तृ-रूप से सम्बन्ध है। क्या चीज दी गयी ? 'लड्डू'। यों 'लड्डू का भी 'देने' से संम्बन्ध हुआ। और यह कर्म कारक है। 'हाथ से दिये'। 'हाथ' करण कारक है। सम्प्रदान भी कारक है। किस को दिये ? 'मोहन' को'। स्पष्ट ही 'देने' के साथ 'मोहन' का भी सम्बन्ध है। इसलिए सम्प्रदान चौथा कारक हुआ।

अपादान—'पेड़ से पृथ्वी पर पत्ता गिरा' इस वाक्य में देखिए, अपादान पांचवाँ कारक है। 'पत्ता गिरा' पत्ता कर्ता कारक। कहां से गिरा? 'पेड़ से गिरा' इस तरह 'पेड़' का भी गिरने से सम्बन्ध है। इसलिए यह अपादान पांचवाँ कारक हुआ।

अधिकरण—छठा कारक अधिकरण है। उपर्युक्त वाक्य में 'पृथ्वी' अधिकरण (आधार) है। पत्ता कहां गिरा? पृथ्वी पर गिरा'

इस तरह छह कारक हुए। यह इनकी निश्चित संख्या है।

हिन्दी-व्याकरण-कारों ने आठ कारक' लिखे हैं। सम्बन्ध तथा सम्बोधन को भी उन्होंने 'कारक' समझ लिया है। आप लक्षण पर उतार कर देखें, सम्बन्ध तथा संबोधन कारक नहीं हैं। उनका क्रिया से सम्बन्ध नहीं है।

राम का घोड़ा खेत मे चर रहा है। इस वाक्य में 'घोड़ा' कर्ता कारक है, 'खेत' अधिकरण है, और 'घोड़े' का सम्बन्ध है 'राम' से; क्योंकि वह उसका मालिक है। यहां 'स्व-स्वामी' का सम्बन्ध है। अब आप देखें, क्रिया है 'चरना'। उस क्रिया का सम्बन्ध 'घोड़े' से है। घोड़ा ही तो चर रहा है न? 'खेत में' चर रहा है। इस तरह खेत भी कारक हुआ। परन्तु 'राम' का 'चरने' से क्या सम्बन्ध? तब यह कारक कैसे?

'ऊधव के नौकर ने स्नान किया' इस वाक्य में स्नान करना क्रिया है। इसके साथ 'ऊधव' का क्या सम्बन्ध? तब' वह

'कारक' किस तरह हुआ ? जिस का क्रिया से नहीं ; बल्कि किसी कारक आदि से सम्बन्ध हो ; वह 'कारक' नहीं कहा जा सकता ।

इसी तरह संबोधन भी कारक नहीं है। कहीं उसका अन्तर्भाव कर्ता आदि कारकों में हो जाता है और कहीं 'संबोधन' मात्र रहता है। राम, तुम चले जाओ। यहां 'राम' को संबोधित किया गया है और 'तुम' से वही गृहीत है, जो कर्ता है। 'राम, वहां पर बन्दर का अच्छा तमाशा हुआ' इस वाक्य में 'राम' को संबोधित किया गया है; पर उसका क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं । इसलिएं वह 'कारक' नहीं कहा जा सकता ।

तात्पर्य यह कि कारक केवल छह है । हिन्दी-व्याकरणों में जो आठ कारक लिखे हैं, वे भ्रम-मूलक हैं ।

शब्द ही कारक नहीं हैं

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका मतलब यह है कि क्रिया से जिनका सम्बन्ध हो, उन्हें 'कारक' कहते हैं । 'राम पुस्तक पढ़ता है' इस वाक्य में 'पढ़ना' क्रिया है। वस्तुतः प ढ़ ना' इन तीन अक्षरों से बना हुआ यह शब्द क्रिया नहीं है; बल्कि इस शब्द से जिस काम का बोध होता है, वह क्रिया है । उस क्रिया का वाचक यह पढ़ना शब्द है; इसलिए इसे भी 'क्रिया कहते हैं। इसी तरह 'पढ़ने' का कर्ता यह 'राम' इन दो अक्षरोंवाला शब्द नहीं है। कान से सुनायी देने वाला

शब्द किसी चीज को कैसे पढ़ सकता है ? और उस शब्द की लिपि-मूर्ति 'राम' क्या कर सकता है ? 'राम' जिस लड़के का नाम है, वही वस्तुतः पढ़ने का काम करता है, और इसलिए वही 'कर्ता' है। उस लड़के का बोध 'राम' शब्द से होता है, इसलिए इसे भी 'कर्ता' कहेंगे।

इस तरह कारकत्व वस्तुतः शब्दों में नहीं; बल्कि उनके अर्थों में हैं; जो शब्दों में उपचरित होता है। यह सब होते हुए भी व्याकरण में शब्द ही पर विचार होता है; इसलिए उन अर्थों के वाचक शब्द भी 'कर्ता' 'कर्म' आदि कहलाते हैं।

'राम ने गोविन्द को पुस्तक दी' इस वाक्य में 'राम' कर्ता, 'गोविन्द' सम्प्रदान तथा 'पुस्तक' कर्म कारक है 'दान' या 'देने' का।

परन्तु हिन्दी के अधिकांश व्याकरणकारों ने 'ने' 'को' आदि विभक्तियों को ही 'कारक' समझ लिया है और वैसा प्रतिपादन किया है। इससे बहुत गड़बड़ फैल गई है।

'कर्मवाच्य' समझाते हुए इन लोगों ने लिखा है—"जब कर्ता कारक करण कारक में आ जाय और कर्म कारक कर्ता कारक मे तब 'कर्म-वाच्य' क्रिया होती है।' इन वैय्याकरणों को यह नहीं मालूम कि जो 'कर्ता' कारक है, वह 'करण' कारक में कैसे आ जायगा और 'कर्म' कारक 'कर्ता' कारक किस तरह बन जायगा। लिखना चाहिए था—"कर्म वाच्य' क्रिया के कर्ता में प्रायः 'ने' 'से' आदि विभक्तियां लगती हैं।

विभक्तियों को कारक समझ लेने से बड़ी गड़बड़ पैदा हो जायगी। 'को' आदि विभक्तियाँ 'कर्म' में ही नहीं, 'कर्ता' आदि अन्य कारकों में भी आती हैं। देखिए :—

१—'राम ने गोविन्द को देखा' कर्म-कारक

२.—'राम ने गोविन्द को पुस्तक दी' सम्प्रदान

३—'वह तो रात को जायगा, अधिकरण,

४—'राम को तो यह पुस्तक पढ़नी ही है' कर्ता

इस तरह विभिन्न कारकों के प्रकट करने में 'को' विभक्ति काम आती है। इसे 'कर्म' कारक कैसे कहा जा सकता है ?

इसी तरह 'से' आदि अन्य विभक्तियां विभिन्न कारकों को प्रकट करती हैं :—

१—'राम चाकू से कलम बनाता है' करण

२—' पेड़ पर घर से आकर तोता बैठ गया' अपादान

३—'मुझ से तो अब देखा नहीं जाता' कर्ता

४—'सबसे बढ़ कर तो राम रहा' अपेक्षा

इस प्रकार विभिन्न कारकों तथा सम्बन्ध आदि का बोध विभक्तियां कराती हैं। वे खुद कारक नहीं हैं।

विभक्तियों को 'कारक' समझ लेने से समस्त व्याकरणकार गड़बड़ में पड़ गये हैं। श्रीचन्द्रमौलि सुकुल ने द्विकर्मक क्रिया को समझाते हुए लिखा है :—"इन दोनो कर्मों के अलग-अलग नाम होने चाहिए। इन (प्रधान तथा गौण) कर्म की पहचान यह है कि वाच्य-परिवर्तन में प्रधान कर्म अपना रूप

कर्ता कारक में कर लेता है और गौण कर्म वैसा ही बना रहता है; जैसे 'मुझ से मोहन के पाँच रुपये दिये गये। और गुरु से शिष्य को व्यकरण पढ़ाया गया' इन वाक्यों में 'रुपये' और 'व्याकरण' शब्द कर्ता कारक हो गये हैं; इसीलिए पहले वाक्यों में वे प्रधान कर्म हैं। यदि गौण कर्म को कर्ता कारक बनाया जाय, तो वाक्य अच्छा न होगा। जैसे—'मुझसे मोहन पाँच रुपये दिया गया' और 'गुरु से शिष्य व्याकरण पढ़ाया गया' भद्दे वाक्य हैं।"

इसमें क्या सार है ? प्रधान और गौण कर्म की कैसी सुन्दर पहचान बतायी गयी है ! 'जब वाच्यपरिवर्तन में प्रधान कर्म अपना रूप कर्ता कारक में कर लेता है, (*तब वह प्रधान कर्म होता है*)।" इस गोरखधन्धे से कोई क्या समझेगा ? यह भी व्याकरण है ? सो. यह केवल मुकुल जी का ही दोष नहीं है। आजकल सरकारी परीक्षाओं में जो सैकड़ों लोगों की लिखी हुई सैकड़ों पुस्तके 'व्याकरण का सार' समझाने के लिए, या 'विशिष्ट विवेचन' करने के लिए चल रही हैं, वे प्रायः सब की सब इसी तरह बे सिर पैर की बातों से भरी हुई हैं। छात्रों का पैसा बर्बाद जाता है, उसका उतना दुःख नहीं; जितना उनके दिमाग में कूड़ा-कर्कट भरने का है ! बेचारे परीक्षा में पास होने के लिए सब रट लेते हैं !

यह सब राष्ट्रभाषा के 'उद्धार' के लिए हो रहा है।

'मुकुल' जी ने 'प्रधान' तथा 'गौण' कर्म समझाने के लिए

वाच्य-परिवर्तन तक दौड़ लगायी है, जो अनावश्यक है। आपने जो कर्म-वाच्य के उदाहरण दिये हैं, वे भी गलत हैं। वाच्य-प्रकरण में आगे यह सब हम लिखेंगे। इसी तरह सबने द्विकर्मक क्रियाओं के 'प्रधान' तथा 'गौण' कर्म समझाये हैं! परन्तु मालूम नहीं, इससे कोई क्या समझ सकता है! द्विकर्मक-क्रियाओं के प्रकरण में यह सब भी हम समझायेंगे।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा एम० ए० ने भी कारक समझने में गलती की है। एक जगह ब्रजभाषा-शब्दों पर विचार करते हुए आपने लिखा है—""तैं' का प्रयोग प्रायः करण कारक के अर्थ में होता है। यह रूप प्राचीन कवियों मे अधिक पाया जाता है; जैसे—'अतिहि कृपणितैं है री' 'तैं बहुतै निधि पायी' 'तैं पायो 'तैं पायो हरि हीरा' 'तैं कीन'।"

आप देखें, ऊपर सर्वत्र 'तैं' कर्ता कारक है, या करण कारक? 'तू अत्यन्त कृपण है' 'तू ने बड़ी निधि पायी' 'तू ने हरि-हीरा पाया' इन वाक्यों में 'तू' करण है कि कर्ता? 'ने' लगाकर कर्ता को करण बतलाने की जो गलतियाँ हिन्दी-व्याकरणों में की गयी हैं, उन्हीं का यह स्वाभाविक परिणाम है कि डा० वर्मा जैसे विद्वान् भी अब तक उसी भ्रम में पड़े हैं और उपर्युक्त वाक्यों में कर्ता को करण मान बैठे हैं! उन्होंने 'ने' का लोप सर्वत्र ध्यान में रख कर समझ लिया कि यह करण है। परन्तु करण कारक में 'ने' विभक्ति नहीं 'से' लगती है। और 'अतिहि कृपणि तैं है री' में तो 'ने' का आभास भी नहीं!

मालूम नहीं; क्या हुआ है।

सारांश यह है कि कारक और विभक्ति विभिन्न वस्तुएँ हैं। विभक्तियों को ही कारक न समझ लेना चाहिए। इन विभक्तियों से कारक-बोध के साथ-साथ अन्य 'सम्बन्ध' आदि का भी बोध होता है। जो विभक्ति 'सम्बन्ध' प्रकट करने के लिए आती है, उससे विविध कारकों का भी बोध होता है; जैसे :—

१—"राम का लड़का पढ़ता है' सम्बन्ध

२—'यह फल राम का भोजन है' कर्ता,

३— 'किताब का पढना मुझे भाता है' कर्म,

इसी तरह अन्यत्र समझिए। सम्बन्ध भी अनन्त प्रकार के हैं:—

१—'राम का लड़का' पिता-पुत्र सम्बन्ध,

२—'कपड़े का थैला' कारण—कार्य सम्बन्ध

३—'बोतल का पानी' आधार-आधेय सम्बन्ध,

४—'प्रेस की स्याही' उपयोगी-उपयोजक सम्बन्ध,

इस तरह संसार में अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं।

'ने' 'को' आदि विभक्तियाँ उपर्युक्त ढंग से कारकों का, सम्बन्ध का तथा अन्य अपेक्षा-उपेक्षा आदि बातों का बोध कराती हैं। न तो ये विभक्तियाँ ही कारक हैं और न वे सब शब्द ही, जिन के आगे ये लगी हों। कारक वही है, जिस का क्रिया के साथ सीधा कोई न कोई सम्बन्ध हो। ❀

❀नोट—सम्बोधन को बहुत से लेखक 'बच्चों! लड़कों!' इस प्रकार सानुस्वार कर के गलत लिख देते हैं, चाहिए—बच्चो, लड़को, इत्यादि।

विभक्ति सटा कर या हटा कर ?

हिन्दी में 'को' आदि विभक्तियाँ प्रकृति से सटा कर लिखी जायँ, या हटा कर ; यह विवाद बहुत पहले चला था। दोनो पक्षों का खूब समर्थन और खंडन हुआ था। अब विभक्ति हटा कर लिखने का ही रिवाज अधिक है; यद्यपि कुछ लोग 'सटा कर लिखने के पक्ष में अभी तक हैं और वैसा ही लिखते हैं। बम्बई की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से जितनी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, सब विभक्ति सटा कर ही छपती हैं। सो, हिन्दी में ये दोनो विकल्प हैं। चाहे जैसे लिखो।

परन्तु सटा कर लिखने की अपेक्षा हटा कर लिखने में सुविधा अधिक है। यदि आप को बीच में, खुलासा के लिए पर्य्याय आदि देना है, तो सटा कर कैसे लिखेंगे ? 'उस अकिंचन (गरीब) आदमी का घर-बार क्या देखा जाय ?' इसे विभक्ति सटा कर कैसे लिखा जाय ? 'उस अकिंचनका (गरीब) आदमीका घर-बार क्या देखा जाय' ऐसा लिखने से 'का' विभक्ति का दो बार आना कुछ खटकता है। इसी तरह 'उस एम० ए०' को ले कर क्या किया जाय, जो वैमनस्य को 'वैमनस्यता' का रूप दे देता है !, इस वाक्य के रेखाङ्कित अंशों को कैसे लिखा जायगा ?

निःसन्देह संस्कृत में विभक्तियाँ प्रकृति से बिलकुल सटा कर लिखी जाती हैं—रामस्य, रामेण, आदि। परन्तु हिन्दी में यह

बात नहीं है। यहाँ हटा कर लिखने की ही परम्परा अधिक व्यापक है और समीचीन तथा उपयोगी भी है।

अवश्य ही हिन्दी मे दो विभक्तियाँ ऐसी है, जो (संस्कृत की तरह) प्रकृति से घुल-मिल कर रहती हैं—'हि' और 'र'। ये दोनों विभक्तियाँ खूब व्यापक भी हैं। 'मुझे-तुझे', हमें-तुम्हें में 'हि' विभक्ति है और 'तेरा-मेरा' तथा 'तुम्हारा हमारा' में 'र'। हिन्दी की सभी बोलियों में इन दोनों विभक्तियों का अस्तित्व पाया जाता है—तोहिं, तोहि आदि। ब्रजभाषा-साहित्य में 'रामहि' इत्यादि रूप से 'हि' विभक्ति खूब प्रचलित है; पर ब्रज में बोली जाने वाली 'बोली' में ऐसा नही है। वहाँ 'कौं' आदि विभक्तियाँ चालू है। परन्तु मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष सर्वनामो में प्रच्छन्न रूप से 'हि' विद्यमान है। वहाँ बोलते हैं– 'मोय कहा परी है' 'तोय तौ आफत परी है'। यहाँ 'मोहि' का 'मोय' और 'तोहि' का तोय' हो गया है। ह का लोप और इ को 'य'। ह्-लोप और इ को य होने की प्रवृत्ति हिन्दी में खूब है, जो इस पुस्तक में आगे आप देखेंगे। यही 'हि' 'मुझे-तुझे और 'हमें'-तुम्हें' में है। 'ह्' का लोप और (प्रकृतिका) 'अ' तथा (प्रत्यय की) 'इ' मिल कर 'ए' सन्धि-रूप।

स्पष्ट है कि 'हि' विभक्ति सदा प्रकृति से मिल-सट कर रहती है। 'मोहि' और 'मोय' लिखा-बोला जायगा—'मो हि' ऐसा नहीं। खड़ी बोली में भी यह विभक्ति उसी तरह (मिलकर)

प्रयुक्त होती है, अलग हट कर नहीं। इसी प्रकार 'र' हैं। शेष सब विभक्तियाँ अलग लगती हैं।

इसका कारण है। 'ने' आदि विभक्तियाँ प्रकृति से अलगाव स्वयं प्रकट करती हैं। 'बालकेन' यहाँ से 'इन' आया। इ न् अ यों 'इन' की स्थिति है। 'इ' अपने स्थान से उठ कर 'अ' के बाद जा बैठी और सन्धि हो कर 'ए' बना। न्' मिला 'ए' में और 'ने' विभक्ति। इस प्रकार प्रकृति से अलग होकर 'ने' विभिक्त बनी, तब वह अलग ही रहती है। इसी तरह 'को' 'से' और 'में' आदि हैं। कौन विभक्ति वहाँ से किस तरह और कैसे इस रूप में आयी, यह पृथक् विवेचन की बात है।

हम ने तृतीयान्त 'इन' विभक्ति से 'ने' का होना बतलाया है। इसकी पुष्टि इस तरह भी होती है कि सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में कर्मवाच्य और भाववाच्य होती हैं, जहाँ 'ने' विभक्ति से युक्त कर्ता कारक का प्रयोग होता है 'रामने लड़कियों को देखा।—सीता ने कपड़ा लिया—लड़के ने धोती ली; इत्यादि संस्कृत में भी कर्मवाच्य तथा भाववाच्य क्रिया के साथ 'इन' विभक्ति का ही प्रयोग होता है–'बालकेन पुस्तकम् पठितम् 'रामेण सुप्तम्'। हिन्दी में भूतकाल का 'य' प्रत्यय संस्कृत के 'त' (क्त) प्रत्यय का ही परिवर्तित रूप है, यह बात पुस्तक के क्रिया —प्रकरण में स्पष्ट की जायगी।

क्रियाओं के वाच्य

क्रियाओं का प्रयोग कई तरह से होता है। वस्तुतः 'शुद्ध'

क्रिया में कोई लिङ्ग, वचन, या पुरुष आदि नहीं होता है। 'करना' 'खाना' 'पीना' आदि शब्दों से जो अर्थ प्रतीत होता है, वही 'क्रिया' है। उस क्रिया में पुरुष, वचन आदि कहाँ हैं? 'लड़का' 'लड़की' आदि शब्दों से प्रतीत होनेवाले अर्थों में स्त्रीत्व या पुंस्त्व की प्रतीति होती है; परन्तु करना आदि शब्दों से जो अर्थ प्रतीत होता है, उसमे यह बात नहीं। इसी तरह 'शुद्ध' क्रिया में संख्या की प्रतीति नहीं होती। 'पढ़ना' क्रिया है, जिसमें एक-दो आदि संख्या का अभाव है। इसलिए शुद्ध क्रिया लिङ्ग-वचन, पुरुष आदि के भेद से रहित है।

परन्तु इन क्रिया—वाचक शब्दो का जब हम भाषा में प्रयोग करेगे, तब कोई न कोई लिङ्ग, वचन तथा पुरुष बोलना ही पड़ेगा। अन्यथा. उच्चारण क्या किया जाय? काम कैसे चले?

जब कि क्रिया में अपना लिङ्ग वचन आदि कुछ है ही नहीं, तब वह किसी दूसरे के सहारे खड़ी होगी। भाषा में उसके समीप कर्ता और कर्म हैं। इन्हीं का वह सहारा लेती है। कभी कर्ता के अनुसार उसके लिङ्ग-वचन आदि होते हैं, कभी वह कर्म का सहारा लेती है। कभी-कभी इन दोनों का सहारा छोड़ देती है और एक नया रूप ग्रहण करती है। ऐसी दशा में वह सदा पुल्लिङ्ग और एक वचन में प्रयुक्त होती है, चाहे कर्ता-कर्म आदि किसी भी पुरुष-वचन आदि के क्यों न हों। नीचे उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया जायगा।

कर्ता के अनुसार क्रिया

१—मोहन रोटी खाता है

२—लड़के भाई को देखते हैं

३—मैं तुम को देखता हूँ

४—लड़की फल खायगी

५—लड़कियां वेद नहीं पढ़ती हैं

इन पाँचो वाक्यों में क्रिया कर्तृ-प्रधान है, कर्तृ-वाच्य है। 'कर्तृ-प्रधान' क्रिया को 'कर्तृ-वाच्य' कहते हैं और 'कर्म-प्रधान' को 'कर्म-वाच्य'। प्राधान्य का मतलब जोर देना या ऐसा ही कुछ और नहीं है। बहुत से लोग भूल से यह समझ बैठते हैं और अनेक वैयाकरणों ने भी लिखा है कि 'कर्तृ-प्रधान' या 'कर्तृवाच्य' क्रिया में कर्ता पर जोर रहता है, और 'कर्मप्रधान' या 'कर्म-वाच्य' में कर्म पर। ऐसी बात नहीं है। कर्तृवाच्य क्रिया में कर्ता पर कोई खास जोर नहीं होता, न कर्मवाच्य में कर्म पर। 'प्रधानता' का अर्थ तो सिर्फ यह है कि उसके अनुसार क्रिया के पुरुष वचन आदि होते हैं। कर्ता के अनुसार जब क्रिया के पुरुष-वचन आदि होते हैं, तब वह कर्तृ-प्रधान होने के कारण 'कर्तृवाच्य' कहलाती है और जब कर्म का अनुसरण वह उन बातों में करती है, तब उसे 'कर्मवाच्य' कहते हैं।

उपर्युक्त पाँचो वाक्यों की क्रियाएँ कर्तृप्रधान या कर्तृवाच्य हैं। 'मोहन रोटी खाता है' कर्ता पुल्लिङ्ग एक वचन में है।

क्रिया भी 'खाता है' वैसी ही है। कर्म 'रोटी' है स्त्रीलिङ्ग, जिस का अनुसरण क्रिया ने नहीं किया है। दूसरे वाक्य में 'लड़के' कर्ता है, बहुवचन और अन्य पुरुष, पुल्लिंग। क्रिया 'देखते हैं' भी वचन, पुरुष तथा लिङ्ग में उसी के अनुसार है। कर्म 'भाई' एकवचन है। यदि कर्ता में एकवचन कर दें 'लड़का' तो झट क्रिया भी अपना रूप बदल कर बन जायगी 'देखता है।' यदि कर्ता में स्त्रीलिङ्ग कर दें 'लड़की' तो क्रिया भी तुरन्त बन जायगी – 'देखती है'। इसलिए यह कर्तृवाच्य क्रिया हुई। इसी तरह शेष तीनों वाक्यों में भी देखिए, कर्ता के अनुसार क्रिया है।

हिन्दी के बहुत से वैय्याकरणों ने 'लड़के ने रोटी खायी' 'मोहन ने पुस्तक पढ़ी' 'लड़की ने वेद पढ़ा' इस तरह के वाक्य कर्तृ-वाच्य' क्रिया के उदाहरण में दिये हैं। सो, यह सब गलत अन्धानुकरण है। इस तरह की क्रियाएँ 'कर्तृवाच्य' नहीं, 'कर्मवाच्य' हैं। साफ नजर आता है—लड़के ने रोटी खायी' क्रिया 'रोटी' के अनुसार स्त्रीलिङ्ग है, न कि कर्ता 'लड़के' के अनुसार पुल्लिङ्ग। 'लड़के' को बदल कर बहुवचन में कर दें, तो भी क्रिया का वचन न बदलेगा—'लड़कों ने रोटी खायी।' कर्म के अनुसार क्रिया में एक ही वचन रहा। हां, यदि कर्म मे बहुवचन कर दे, तो क्रिया भी बहुवचन हो जायगी, भले ही कर्ता एक वचन में रहे—'लड़के ने रोटियाँ खायीं'। कर्म पुल्लिङ्ग कर देने से क्रिया भी उसी के पीछे जायगी—लड़के

ने फल खाया'। कर्ता को स्त्रीलिङ्ग कर देने पर भी क्रिया कर्म के अनुसार पुल्लिङ्ग ही रहेगी—'लड़की ने फल खाया'। कर्ता में बहुवचन हो जाने पर भी कर्म के अनुसार क्रिया में एकवचन ही रहेगा—लड़कियों ने फल खाया'। इस तरह चाहे जैसे उलट-पलट कर देख लीजिए, ये क्रियाएँ कर्मवाच्य ही हैं, न कि कर्तृवाच्य। हिन्दी-व्याकरणकारों ने न जाने क्या समझ कर ऐसी क्रियाओं को 'कर्तृवाच्य' लिख दिया है। सकर्मक क्रियाएँ हिन्दी में भूतकाल में कर्मवाच्य या भाववाच्य रहती हैं। अकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भी कर्तृवाच्य रहती हैं—लड़का गया लड़की गई। वर्तमान काल में अकर्मक-सकर्मक सभी क्रियाएँ कर्तृवाच्य रहती हैं और भविष्यत् काल में भी।

कर्मवाच्य

जब क्रिया कर्ता के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार होती है तब 'कर्मप्रधान' होने के कारण उसे 'कर्मवाच्य' कहते हैं।

१ लड़के ने रोटी खायी थी

२ लड़की से पानी पिया नहीं जाता

३—पिता ने ककड़ी खायी होगी

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में क्रियाएँ कर्मवाच्य हैं। पहले वाक्य में कर्ता 'लड़के' पुल्लिंग और बहुवचन है; पर क्रिया 'खायी थी' स्त्रीलिंग-एकवचन है। यदि कर्म पुल्लिंग कर दें, तो

क्रिया भी स्त्रीत्व छोड़ देगी—'लड़के ने फल खाया'। अब कर्ता में स्त्रीलिंग 'लड़की' कर दें, तो भी क्रिया पुल्लिंग 'खाया' ही रहेगी। वह कर्ता की ओर देखती ही नहीं। इसलिए 'कर्मवाच्य' है। दूसरे तथा तीसरे उदाहरणों में भी क्रियाएँ कर्म के ही अनुसार हैं, उलट-पुलट कर देख लीजिए।

स्पष्ट है, जब कर्म के अनुसार क्रिया हो, तब 'कर्मवाच्य'।

हिन्दी-व्याकरणों मे कर्मवाच्य क्रिया के उदाहरण भी बिलकुल भद्दे और गलत दिये हैं!

१—गुरु से शिष्य पीटा गया

२—मुझ से वेद पढा गया

३—लड़की से लड़का देखा गया

इस तरह 'कर्मवाच्य' क्रिया के उदाहरण दिये गये हैं, जो भ्रष्ट तथा गलत हैं। हिन्दी एक जीवित भाषा है, बिलकुल चालू। इस में कभी भी कोई ऐसे नहीं बोलता-लिखता, जैसे उपर्युक्त कर्मवाच्य के उदाहरणों में हैं। उन वाक्यों का इस तरह सर्वत्र प्रयोग होता है:—

१—गुरु ने शिष्य को पीटा

२—मैंने वेद पढ़ा

३—लड़की ने लड़का देखा

इनमें से प्रथम वाक्य 'भाववाच्य' है, जिसका निरूपण आगे होगा। 'गुरु ने शिष्य पीटा' यह प्रयोग कम होता है, जो कर्मवाच्य है। दूसरे तथा तीसरे वाक्य कर्म-वाच्य हैं ही।

'गुरु से शिष्य पीटा गया', इस तरह के वाक्यों में क्रिया कर्म के अनुसार है; इसमें सन्देह नहीं; परन्तु हिन्दी में ऐसा कोई लिखता-बोलता तो नहीं है न! इसलिए, इस तरह के वाक्य लिखना और व्याकरण में उदाहरण के तौर पर रखना गलती है। इससे भ्रम फैलता है और भाषा बिगड़ती है। भाषा में जो कुछ और जैसा-कुछ बोला जाता है, व्याकरण उसी पर विचार करेगा। वह अपनी ओर से कोई नयी चीज गढ़ कर न देगा। जहाँ वह भाषा को छोड़ कर इधर-उधर हुआ कि खुद गलत हुआ।

संस्कृत के एक विद्वान ने 'पुंक्षु' प्रयोग किया और इसके लिए एक नया व्याकरण ही बनाया 'सारस्वत'। परन्तु 'पुंक्षु' सदा गलत ही रहा; क्योंकि वैसा कोई बोलता ही नहीं है; किसी ने वैसा प्रयोग ही नहीं किया! सब लोग 'पुंसु' कहते-बोलते हैं। भाषा को कोई नया और विचित्र व्याकरण बना कर चाहे जहाँ खींच नहीं सकता। उसका अपना रास्ता है, अपनी चाल है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'शशाङ्क' की तरह 'मृगाङ्क' होता है; पर 'शशी' के समान 'मृगी' नहीं होता। व्याकरण के अनुसार 'मृगी' हो जाय; पर गलत होगा; क्योंकि वैसा प्रयोग नहीं होता है।

सो, 'गुरु से शिष्य पीटा गया' या 'लड़के के द्वारा वेद पढ़ा गया' इस तरह के प्रयोग बिलकुल बेढँगे हैं। व्याकरण में कर्मवाच्य रूप के उदाहरण में इस तरह के वाक्य देना भाषा के

प्रति अन्याय करना है। अहिन्दीभाषी जन ऐसे व्याकरण पढ़ कर 'मुझ से पानी पिया जाता है' ऐसा लिख-बोल सकते हैं। क्या यह ठीक है?

हाँ, शक्ति-निषेध आदि में वैसे प्रयोग जरूर होते हैं; जैसे:—

१—लड़के से रोटी नहीं खायी जाती

२—लड़की से पानी नहीं पिया जाता

३—मा से फल भी नहीं खाये जाते

ये तीनों वाक्य कर्म-वाच्य हैं और शक्ति-निषेध में हैं।

इस तरह 'कर्मवाच्य' का विषय स्पष्ट हो गया।

भाव-वाच्य

जब क्रिया कर्तृवाच्य भी न हो और कर्मवाच्य भी न हो, तब क्या हो सकता है? आखिर कोई न कोई पुरुष-वचन आदि उसमें लगेगा ही! अन्यथा, प्रयोग कैसे होगा?

ऐसी जगह 'भाववाच्य' क्रिया होती है। शुद्ध धात्वर्थ को 'भाव' कहते हैं। प्रयोग करने के लिए कुछ तो चाहिए ही। सो, 'भाववाच्य' क्रिया में सदा अन्यपुरुष, पुल्लिंग और एकवचन रहता है।

१—लड़कों से उठा नहीं जाता २—लड़कियों से उठा नहीं जाता

३—लड़की से उठा नहीं जाता ४—मुझ से उठा नहीं जाता

५—तुझ से उठा नहीं जाता ६—किसी से उठा नहीं जाता,

ऊपर के सब वाक्य भाववाच्य हैं। 'उठना' क्रिया अकर्मक है; सो कर्म तो होता ही नहीं और कर्ता चाहे पुल्लिंग हो, चाहे

स्त्रीलिंग, एकवचन या बहुवचन, प्रथम पुरुष या उत्तम पुरुष—चाहे जैसा हो—क्रिया सदा अन्य पुरुष पुल्लिंग एकवचन रहेगी।

इसी तरह सकर्मक क्रिया का—

१—लड़कों ने मा को देखा   २—लड़की ने लड़कों को देखा

३—लड़कों ने लड़की को देखा ४—मैं ने लड़की को देखा

५—लड़की ने मुझको (या हमको) देखा

ये पाँचो वाक्य सकर्मक क्रिया के 'भाववाच्य' हैं। इनमें कर्ता तथा कर्म चाहे जैसा हो, क्रिया सदा अन्य पुरुष पुल्लिंग, एक वचन रहेगी। उसे न कर्ता से मतलब है, न कर्म से।

इस तरह अकर्मक तथा सकर्मक, दोनों तरह की क्रियाओं के 'भाववाच्य' प्रयोग होते है। विशेष बात यह कि सकर्मक क्रिया का जब कर्मवाच्य या भाववाच्य प्रयोग भूतकाल में होता है, तब 'ने' विभक्ति कर्त्ता में लगती है; पर सकर्मक-अकर्मक क्रियाएँ जब कर्तृवाच्य होती हैं, तब कोई विभक्ति सामने नहीं रहती। हाँ अकर्मक क्रिया का भाववाच्य प्रयोग हो, तब कर्ता में 'से' विभक्ति भी लगती है।

'गुरु' जी की गलत धारणा

हिन्दी के सर्वमान्य और सुप्रसिद्ध वैय्याकरण पं० कामता प्रसाद गुरु की इस सम्बन्ध में एक विचित्र धारणा है! उन्होंने अपने व्याकरण में लिखा है कि 'मैंने मेज को देखा' इस तरह के प्रयोग गलत हैं; क्योंकि ये न तो कर्तृवाच्य हैं, न कर्मवाच्य। उनका कहना है कि उर्दू से ऐसे प्रयोग हिन्दी में आ गये हैं जो

त्याज्य और दूषित हैं। उनका पत्र—

[illegible]

प्रिय वाजपेयीजी,

सप्रेम नमस्कार।

आपका कृपा-पत्र मिला। उत्तर के लिए धन्यवाद। "पहले तो मनोभावों को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया"—यह वाक्य, हिन्दी व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है, क्योंकि यह न कर्मवाच्य है न भाववाच्य; किन्तु दोनों का संकर है। इसका शुद्ध कर्मवाच्य रूप यह है—"पहले तो सब मनोभाव दो श्रेणियों में विभक्त कर दिये गये।" ऐसी रचना उर्दूवाले किया करते हैं और उन्हीं का अनुकरण

INDIA POST CARD

WRITING SPACE REPLY ADDRESS ONLY



'गुरु' जी की यह धारणा अपनी भाषा की नस-नाड़ी ठीक-ठीक न पहचानने के कारण मालूम होती है। वस्तुतः ऐसे प्रयोग बिलकुल शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत हैं। माना कि इस तरह के प्रयोग न कर्तृवाच्य हैं और न कर्मवाच्य; पर 'भाववाच्य' तो हैं न ? इस तीसरे 'वाच्य' पर ध्यान क्यों नहीं दिया गया ?

इसका कारण है। ऐसा जान पड़ता है कि 'गुरु' जी हिन्दी के स्वरूप को ठीक-ठीक समझे बिना ही इसका व्याकरण लिखने बैठ गये और इसीलिए 'रग पर नश्तर' लग गया ! बात यह है कि उन्होंने हिन्दी का व्याकरण बनाने में संस्कृत, अंग्रेजी तथा मराठी, आदि के व्याकरणों पर ध्यान रखा; हिन्दी के स्वरूप पर नहीं। इसीलिए ऐसी भयंकर गलतियाँ हो गयी हैं।

संस्कृत भाषा में अकर्मक क्रियाओं के कर्तृवाच्य तथा भाववाच्य में प्रयोग होते हैं। सकर्मकों के कर्तृवाच्य और कर्म-वाच्य में होते हैं। अकर्मक क्रिया में 'कर्म' होता ही नहीं; इसलिए उसका कर्मवाच्य प्रयोग कहाँ से हो ? सकर्मक क्रिया का वहाँ 'भाववाच्य' प्रयोग नहीं होता। क्यों नहीं होता, इसका कोई उत्तर नहीं, सिवाय इसके 'नहीं होता है'। भाषा का प्रवाह ही वैसा है। संस्कृत भाषा के व्याकरण में भी इसीलिए कह दिया गया कि सकर्मक क्रिया का भाववाच्य में प्रयोग नहीं होता।

संस्कृत व्याकरण के उक्त नियम को कहीं 'गुरु' जी ने देख लिया होगा। था तो वह संस्कृत भाषा के विषय में; पर 'गुरु' जी ने शायद संसार भर की भाषाओं के बारे में उसे

समझ लिया। इसीलिए, हिन्दी भाषा के व्याकरण में भी उसे लिख दिया!

सो यह भ्रम है। संस्कृत में सकर्मक क्रियाओं के भाववाच्य प्रयोग नहीं होते हैं, तो न हों; पर हिन्दी में भी वैसे प्रयोग न हों, ऐसा हुक्म कौन दे सकता है? यदि कोई दे भी, तो मानेगा कौन? स्वयं 'गुरु' जी ही डगमगा जायँगे, जब उनसे कहा जायगा—

१—लड़की ने तुम को देखा

२—मा ने हम को देखा

३—हम ने उस को देखा ('उस' आदमी को)

इन वाक्यों को आप कर्तृ-वाच्य समझते हैं, या कर्म-वाच्य? तो क्या उत्तर मिलेगा? प्रथम वाक्य में कर्ता स्त्रीलिंग है 'लड़की'; परन्तु क्रिया पुल्लिंग है 'देखा'। इसलिए वह 'कर्तृवाच्य' नहीं। कर्म में बहुवचन है 'तुम'; परन्तु क्रिया में एक वचन है 'देखा'। इसलिए यह कर्मवाच्य भी नहीं। तब 'भाववाच्य' है न?

यदि ऐसे प्रयोग गलत हैं और उर्दू से आकर भर गये हैं; तो हम 'गुरु' जी से निवेदन करेंगे कि इन उपर्युक्त तीनों वाक्यों का प्रयोग कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य में करके दिखाइए। कर्तृवाच्य प्रयोग तो हो ही नहीं सकता और कर्मवाच्य 'गुरु' जी शायद इस तरह पढ़ेंगे :—

१—लड़की ने तुम देखे २—मा ने हम देखे

तो, ये प्रयोग सर्वथा गलत और भ्रष्ट होंगे। हिन्दी में कोई

इस तरह बोलता ही नहीं है । तब फिर गुरू जी कैसे काम चलावेंगे ?

वस्तुतः 'मैंने लड़के को देखा' यह सकर्मक क्रिया का भाववाच्य प्रयोग बिलकुल ठीक है। 'मैंने लड़का देखा' इस तरह इसका कर्मवाच्य भी होता है। यथास्थान दोनों तरह के प्रयोग होते हैं। परन्तु 'लड़की ने तुम को देखा' यह भाववाच्य ही रहेगा। इसका कर्मवाच्य हिन्दी मे न होगा।❀

सारांश यह कि हिन्दी में सकर्मक क्रियाओं के भी भाववाच्य प्रयोग होते हैं, खूब होते हैं, प्रतिक्षण होते हैं। और खुद 'गुरू' जी भी करते हैं। उन के लेखो में देख लीजिए और बातें करते सुन लीजिए। व्याकरण में वैसा वे भ्रम से लिख गये हैं, जिस का सशोधन हो जाना चाहिए ।

संस्कृत भाषा का या उसके व्याकरण का सर्वांश में अनुकरण हमारी हिन्दी को ग्राह्य नहीं है। संस्कृत में सकर्मक क्रियाओं के भाववाच्य प्रयोग नहीं होते, तो हिन्दी में भी न हों, यह भी कोई बात है ?

❀ 'बेटी की विदा' शीर्षक कविता में गुरुजी की पक्तियाँ है:—

पूजे कई देवता हमने, तब है इस को पाया ;
प्राण समान पाल कर इसको इतना बड़ा बनाया !

यहाँ रेखांकित अश सकर्मक क्रियाओं के भाव-वाच्य रूप हैं कि नहीं ? इस तरह के सहस्रों प्रयोग गुरु जी की इबारत से उद्धृत करने की जरूरत नहीं है।

और, उर्दू से ऐसे भाववाच्य प्रयोग आने की बात भी खूब कही ! मानों उर्दू कोई न्यारी भाषा है ! हिन्दी के ही एक रूप का नाम तो उर्दू है, जो वेहद फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों से दब गयी है और जो विदेशी उलटी लिपि में लटकी है। परन्तु उसके 'वाच्य' आदि सब 'हिन्दी के ही हैं, काल आदि सब कुछ। वहाँ से यहाँ वैसे सकर्मक क्रियाओं के भाव-वाच्य प्रयोग नहीं आये हैं। 'गुरु' जी कहते हैं कि आये हैं; तो इस में प्रमाण क्या है ?

और मान लो, उर्दू से ही प्रयोग हिन्दी में आ गये और उर्दू एक न्यारी भाषा भी है; परन्तु जब कि वे वैसे प्रयोग हिन्दी में घुल-मिल गये और उनके बिना काम भी नहीं चलता, तब उन को कोई निकाल कैसे सकता है ? जो चीज हजम हो कर रक्त-मांस में मिल गयी, उसे शरीर से कैसे बाहर किया जाय ?

वस्तुतः न तो उक्त सकर्मक क्रियाओ के भाववाच्य प्रयोग हिन्दी में गलत ही हैं, और न उर्दू से ही आये हैं, न व्याकरण से ही गलत हैं, न उनके बिना हिन्दी पूर्ण हो सकती है; इस लिए वे बिलकुल शुद्ध हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) को चाहिये कि 'गुरु' जी के (हिन्दी व्याकरण) का संशोधन करा के प्रकाशित करे। यदि अभीष्ट संशोधन 'गुरु' जी के ही हाथों हो जायगा, तो अच्छा रहेगा।

वाच्य-परिवर्तन

संस्कृत तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में वाच्य-परिवर्तन हो

सकता है, होता है, किया जाता है। वहाँ क्रिया के सभी कालों में वाच्य-परिवर्तन होता है। परन्तु हिन्दी में ऐसा वाच्य-परिवर्तन सर्वत्र हो नहीं सकता। इस बात का विचार किये बिना ही हिन्दीव्याकरणकार छात्रों के लिए, अभ्यासार्थ, वाच्य परिवर्तन के 'पाठ' रखते हैं, वाच्य-परिवर्तन कराते हैं। उनके ही आधार पर स्कूलों के मास्टर छात्रों को वैसे प्रश्न देते हैं, वाच्य-परिवर्तन कराते हैं। परन्तु इस तरह वाच्य-परिवर्तन हिन्दी में नहीं होता है। छात्रों के दिमाग में भ्रम पैदा करके उनके समय को नष्ट किया जाता है और भाषा का स्वरूप बिगाड़ा जाता है। नीचे कुछ वाक्य हम देते हैं, इनका वाच्य-परिवर्तन कीजिए तो—

१—लड़के स्कूल जाते हैं

२—लड़की रोटी खाती है

३—मोहन घर में खेलता है

ऊपर की अकर्मक तथा सकर्मक क्रियाएँ वर्तमान काल में प्रयुक्त हैं, 'कर्तृवाच्य' में। इनका वाच्य-परिवर्तन कीजिए तो सही! कुछ होता है? अब भूतकाल की क्रियाएँ लीजिए—

१—लड़की ने चने चबाये थे

२—शेर ने हिरन मारा था

३—लड़के ने तुमको देखा था

प्रथम वाक्य कर्मवाच्य है। यह कर्तृवाच्य में नहीं बदला जा सकता। हाँ 'लड़की ने चनों को चबाया' ऐसा भाववाच्य

में परिवर्तन हो सकता है, जो ठीक न होगा; क्योंकि जिन क्रियाओं का 'खाना' अर्थ है, उनका भूतकाल में कर्मवाच्य ही प्रयोग होगा, यदि कर्ता मनुष्य है। यदि कर्ता राक्षस या पशु हो, तब भाववाच्य प्रयोग जरूर होगा—'राक्षस ने लड़की को खा लिया' 'शेर ने बैल को खा लिया' 'भेड़िये ने बकरी के बच्चों को खाया' इत्यादि। इसीलिए, उद्धृत वाक्यों में से केवल दूसरे का भाववाच्य में परिवर्तन हो सकता है; पर कर्तृवाच्य में बिलकुल नहीं।

तीसरे वाक्य का तो बिलकुल वाच्य-परिवर्तन हो ही नहीं सकता, न कर्तृवाच्य में, न भाववाच्य में।

इसलिए, आँख मूँद कर प्रत्येक क्रिया का वाच्य-परिवर्तन कराना गलती है। कहीं हो सकता है, कहीं बिलकुल नहीं।

स्कूलों के मास्टर प्रायः ऐसे वाक्य वाच्य-परिवर्तन के लिए दिया करते हैं :—

१—लड़के ने वेद पढ़ा

२—मै घर जाता हूँ

३—गुरु ने शिष्य को वेद पढ़ाया

इनका ऐसा वाच्य-परिवर्तन वे समझते और चाहते हैं :—

१—लड़के से वेद पढ़ा गया

२—मुझसे घर जाया जाता है

३—गुरु से शिष्य वेद पढ़ाया जाता है

परन्तु ये परिवर्तित तीनों वाक्य गलत हैं; क्योंकि

ऐसे प्रयोग होते ही नहीं हैं। इसलिए इस तरह वाच्य-परिवर्तन करना-कराना बड़ी गलती है। समय नष्ट होता है, छात्रों का दिमाग खराब होता है और भाषा-भ्रम फैल कर ऊटपटाँग धारणाएँ जमती हैं। इससे भाषा भ्रष्ट होती है। व्याकरण का काम भाषा को सुव्यवस्थित करना है, न कि उसकी सुव्यवस्था को और बिगाड़ना।

हिन्दी के इन व्याकरणों का प्रभाव बहुत दूर तक देखने को मिलता है। डा० बाबूराम सक्सेना एम० ए० ने अपने 'भाषा-विज्ञान' में हिन्दी के वर्तमान स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—"क्रिया में कर्मवाच्य के अलग रूप बिलकुल गायब हो गये हैं और 'जाना' सहायक क्रिया से उसका काम चला लिया जाता है।"

स्पष्ट है कि 'राम ने पुस्तक पढ़ी' इत्यादि भूतकाल की कर्मवाच्य क्रियाओं को डाक्टर सक्सेना ने कर्तृवाच्य समझ रखा है, जैसा कि प्रचलित हिन्दी-व्याकरणों में पढ़ा था। उन्होंने इसका कर्मवाच्य में यह रूप भी पढ़ा था—'राम से पुस्तक पढ़ी गयी'। इस विकृत वाक्य को कर्मवाच्य और उस कर्मवाच्य को कर्तृवाच्य समझ लेने का परिणाम यह हुआ कि 'भाषा-विज्ञान' जैसे ग्रन्थ मे उन्होंने लिख दिया—'क्रिया के कर्मवाच्य के रूप बिलकुल गायब हो गये हैं'! यहाँ 'बिलकुल' क्रियाविशेषण ध्यान देने योग्य है!

सो, यह सब हिन्दी में प्रचलित व्याकरण-पुस्तकों का प्रभाव

है, जिनके पढ़ने में देश के करोड़ों छात्रों का करोड़ों घंटे प्रतिदिन समय नष्ट होता है और करोड़ों रुपये पुस्तकें खरीदने में व्यर्थ जाते हैं! जब इतनी स्पष्ट, साधारण तथा सरल बातों में ऐसा भ्रम और अज्ञान है, तब विशेष गम्भीर विवेचन की क्या आशा की जाय? हिन्दी जहाँ अब से पचास वर्ष पूर्व इस दिशा में थी, वहीं अब भी चक्कर काट रही है; भँवर में पड़ी हुई! कहानी-किस्से चाहे जितने 'मनोवैज्ञानिक' गाड़ियों छप रहे हों; पर गम्भीर विषयों की छीछालेदर है!

प्रेरणा तथा कर्मकर्तृ प्रयोग

जब कोई काम करता है, तो 'कर्ता' कहलाता है। साधारण अवस्था में क्रिया का यह मुख्य 'कर्ता' अपने असली रूप में सामने रहता है। परन्तु जब कोई किसी से काम कराता है, तब वह असली 'कर्ता' कुछ दूसरे रूप में सामने आता है। 'चोरी करना' एक क्रिया है। जो इस क्रिया को करता है, वही इसका 'कर्ता' है, करनेवाला। परन्तु जो आदमी प्रेरणा करके चोरी कराता है, वह भी तो एक तरह से उस चोरी का करनेवाला ही हुआ न? इस लिए, उसे भी चोरी करने का 'कर्ता' कहेंगे। 'राम चोरी करता है' यानी 'चोरी करने' का 'कर्ता' राम है। 'गोविन्द राम से चोरी कराता है', यानी करने को प्रेरित करता है। इस जगह उस 'चोरी करने' में गोविन्द भी 'कर्ता' है। यानी यहाँ दो 'कर्ता' हैं, गोविन्द और राम। असल में 'कर्ता' 'राम' ही है; क्योंकि चोरी करता तो वही है न? परन्तु वह भिन्न रूप

में आया है। ऐसी प्रेरणार्थक क्रियाओं में प्रेरक कर्ता 'ने' विभक्ति से या निर्विभक्ति आता है और असली 'कर्ता' 'को' या 'से' विभक्ति के साथ। भूत काल में सकर्मक क्रियाओं के साथ कर्ता 'ने' विभक्ति के साथ आता है; क्योंकि क्रिया कर्मवाच्य या भाववाच्य होती है। शेष सर्वत्र निर्विभक्तिक।

साधारण अवस्था की अकर्मक क्रिया भी यहाँ प्रेरणा में आ कर सकर्मक हो जाती है– 'मा बच्चे को सुलाती है' सोता तो बच्चा ही है न ? इस लिए असली कर्ता वही है, जो यहाँ कर्म-रूप से है। प्रयोजक कर्ता 'मा' है, जो 'कर्ता' की स्पष्ट वर्दी में है। इस तरह 'सोना' अकर्मक क्रिया प्रेरणा में 'सुलाना' सकर्मन बन गई।

साधारण दशा की सकर्मक क्रिया प्रेरणा में आ कर 'द्विकर्मक' हो जाती है। 'लड़का वेद पढ़ता है'। 'पढ़ना' सकर्मक क्रिया है। यहाँ 'वेद' उसका कर्म है। 'लड़का' कर्ता है पढ़ने का। पढ़ने का रूप प्रेरणा में 'पढ़ाना' हो जायगा, और यह सकर्मक क्रिया 'द्विकर्मक' हो जायगी। 'मैं लड़के को वेद पढ़ाता हूँ'। यहाँ दो कर्म हैं 'लड़के को' और 'वेद'। यानी 'पढ़ने' का कर्ता 'लड़का' भी 'कर्म' बन गया है, कर्म-कारक की वर्दी पहने है। परन्तु असल में वह 'कर्म' नहीं, 'कर्ता' ही है। वही तो 'पढ़ता है' भले ही कोई 'पढ़ावे'। वह असल में 'कर्म' नहीं है, इसी लिए उसे 'गौण' कर्म कहते हैं। मुख्य कर्म 'वेद' है।

इस बात को समझने के लिए 'मुख्य' तथा 'गौण' शब्द का

अर्थ समझ लेना चाहिए। किसी 'गुण' या 'धर्म' के कारण जब किसी को कुछ अन्य बना दिया जाता है, आरोप-सा कर दिया जाता है तब 'गौण प्रयोग' कहते हैं। यह 'गुण' या 'धर्म' शब्द साहित्य में 'साधारण धर्म' कहलाता है। आरोप अथवा अध्य-वसान द्वारा यह 'गौण प्रयोग' होता है। 'शिवा जी शेर हैं, यहाँ शिवा जी को जो 'शेर' बनाया, तो यह 'गौण' प्रयोग है। शेर में जो गुण हैं, शक्ति-साहस आदि, वे ही सब उसी रूप में शिवा जी में भी हैं। इसी गुण-सम्बन्धी या गौण सादृश्य के कारण शिवा जी को शेर कह दिया है। असल में 'शेर' मृगेन्द्र को कहते हैं। यह गौण प्रयोग आरोप के द्वारा हुआ, शिवा जी में शेर का आरोप कर दिया गया। परन्तु आरोप के विना भी गौण प्रयोग होता है। शिवा जी को आता देख 'समर्थ' ने कहा—'शेर आ रहा है' तो यह साध्यवसान गौण प्रयोग हुआ, आरोप नहीं हुआ, शिवा जी का नाम नहीं लिया। परन्तु असल में शिवा जी वह चीज नहीं हैं, जो 'शेर' शब्द का मुख्य अभिधेय है। जंगल का वह 'पशु'-विशेष ही उस शब्द का मुख्य अर्थ है। शिवा जी तो 'गौण' अर्थ हुए। 'गौण' अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' भी कहते हैं।

प्रकृत में 'द्विकर्मक' क्रिया के मुख्य तथा गौण कर्म में भी यही बात है। 'मैं लड़के को वेद पढ़ाता हूँ' में 'वेद' तो असली कर्म है ही। वही पढ़ा-पढ़ाया जाता है। परन्तु 'पढ़ने' का जो 'कर्ता' है 'लड़का,' वह यहाँ 'गौण' कर्म बन गया है। वस्तुतः वह 'कर्म' नहीं, 'कर्ता' है। 'कर्म' की तरह उसका प्रयोग हुआ

है। जो 'कर्म' में बातें होती हैं, वे उस में है, विभक्ति आदि। प्रेरणा के कारण वह 'कर्म' बन गया है; जब कि उसका कर्तृत्व छूटा नहीं है। मेरे पढ़ाने पर भी पढ़ेगा तो वही न ? इस लिए, इस 'प्रयोज्य कर्ता' को 'गौण' कर्म करते हैं। 'मुख्य' कर्म तो मुख्य रहे गा ही।

धातु का आद्य स्वर प्रेरणा मे आ कर प्रायः ह्रस्व हो जाता है, कहीं कहीं ह्रस्व ही दीर्घ बन जाता है:—सीखना–सिखाना, सोना सुलाना, जीना-जिलाना आदि। द्वितीय स्वर दीर्घ हो जाता है :—पढ़ना-पढ़ाना, करना-कराना आदि।

हिन्दी-व्याकरणों में प्रेरणा तथा 'कर्म-कर्तृ' प्रयोग समझने में गलती की गई है और 'कटना' का 'काटना' तथा 'कटाना' आदि प्रेरणार्थक रूप लिखे गये हैं। सो, यह सब भूल है। देखना यह चाहिए कि मूल धातु क्या है। साधारण क्रिया प्रेरणा में जब आ जाती है, तब स्वरूप–विस्तार हो कर उसके दो 'कर्ता' हो जाते हैं—प्रयोज्य और प्रयोजक। इसी तरह साधारण क्रिया जब 'कर्म-कर्तृ' प्रक्रिया में प्रयुक्त होती है, तब उस का असली 'कर्ता' ही बिलकुल उड़ जाता है !

जब वक्ता अपनी इच्छा से 'कर्ता' का उच्चारण नहीं करता है, तब 'कर्म-कर्तृ' प्रयोग होता है ('कर्मवाच्य' नहीं)। 'काटना' एक मुख्य क्रिया है, 'कटना' नहीं; क्योंकि इस क्रिया का कोई 'कर्ता' चाहिए। साधारणतः जब कोई काटता है, तभी कुछ कटता है, अपने आप नहीं कट जाता। इसलिए 'काटना'

क्रिया है। 'राम लकड़ी काटता है' 'वीर शत्रु-शिर काटता है' इत्यादि। इस तरह की सकर्मक क्रियाएँ 'कर्मकर्तृ' में भी बोली जाती हैं। 'हमारे यहाँ तो आज लकड़ियाँ कट रही हैं'। कौन काट रहा है, इसको जरूरत या विवक्षा नहीं। केवल लकड़ियों का कटना कहना है। यह वक्ता की इच्छा है। सहूलियत के लिए ऐसे प्रयोग होते हैं—लकड़ियाँ कट या फट रही हैं, कपड़े सिल रहे हैं, बर्तन मँज रहे हैं, इत्यादि। इन क्रियाओं में 'कर्ता' कहीं गृहीत नहीं है; बल्कि असल में जो 'कर्म' है—लकड़ी, कपड़े, बर्तन; उन्हें ही 'कर्ता' की तरह रख दिया है। इसी को 'कर्म-कर्तृ' प्रयोग करते हैं। 'काटना' मुख्य क्रिया है, जिसका 'कर्म'-कर्तृ' मे 'कटना' और प्रेरणा में 'कटाना' या 'कटवाना' होगा। मूल 'काटना' सकर्मक क्रिया है, न कि 'कटना' अकर्मक। कोई चीज कट कैसे सकती है, जब तक काटनेवाला न हो! इस लिए 'कटना' को अकर्मक मूल क्रिया समझ कर इसका 'काटना' प्रेरणा-रूप बतलाना अज्ञान है।

हाँ, उठना, बैठना, ठहरना आदि अवश्य अकर्मक क्रियाएँ हैं, और प्रेरणा में आ कर उठाना, बैठाना, ठहराना बन जाती हैं। अकर्मक क्रियाओं का 'कर्म-कर्तृ' में प्रयोग नहीं होता; क्योंकि जब उन के 'कर्म' है ही नहीं, तब उसे 'कर्ता' कैसे बनाया जाय?

जैसे राम अपने आप उठता है, और ठहरता है, इन कामों

में स्वतन्त्र है, 'कर्ता' है; ठीक उसी तरह अपने आप लकड़ी कट नहीं सकती, बर्तन मँज नहीं सकते, कपड़े धुल नहीं सकते इस लिए कटना, मँजना और धुलना मूल क्रियाएँ नहीं हैं, जिनकी प्रेरणा काटना, माँजना तथा धोना बतलाया जाय ! ये तो मूलतः सकर्मक क्रियाएँ हैं, जिनके रूप प्रेरणा में—कटाना—कटवाना, मँजाना, मँजवाना तथा धुलवाना रूप होंगे । और 'कर्म-कर्तृ' में उन्हीं मूल क्रियाओं के रूप—कटना, मँजना तथा धुलना हो जायँगे—बाँस कट रहे हैं, बर्तन मँज रहे थे, कपड़े धुलते होंगे। 'कर्मकर्तृ' प्रयोग में जब सकर्मक क्रिया का 'कर्म' 'कर्ता' बन जाता है, तब वह (कर्म न रहने से) अकर्मक हो जाती है ।

उपर्युक्त सिद्धान्त अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इस मामले में भी हिन्दी-व्याकरणों में अंटसंट सब लिखा गया है ! सकर्मक क्रियाओं के 'कर्मकर्तृ' प्रक्रिया वाले रूप को 'अकर्मक' क्रिया का मूल रूप मान कर प्रेरणा में वह रूप बतलाया गया है, जो उसका असली रूप है !

आशा है, इस विषय में भी हिन्दी-व्याकरणों में आगे सुधार कर दिया जायगा ।

कर्म ही नहीं, कभी-कभी करण तथा अधिकरण आदि अन्य कारक भी उपचारतः 'कर्ता' बन जाते हैं। 'तलवार खूब काटती है' इस वाक्य में 'करण' कर्ता-रूप में आया है। वस्तुतः 'तलवार' करण है, कर्ता नहीं। तलवार से कोई व्यक्ति काटेगा,

स्वयं तलवार शत्रु-सिर न काट देगी। परन्तु तलवार में वैशिष्ट्य-द्योतन करने के लिए यहाँ उसे ही कर्ता की तरह प्रयुक्त किया है और असली कर्ता अविवक्षित है।

इसी तरह 'यह बटलोही पाँच सेर चावल पकती है' इस वाक्य में अधिकरण को कर्ता कारक का रूप मिल गया है। 'बटलोही' वस्तुतः अधिकरण है, कर्ता नहीं। परन्तु सौकर्य के लिए उसे ही कर्ता के रूप में प्रयुक्त कर दिया है। ऐसा बोलने की चाल है।

लेकिन कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कारक जब कर्ता के रूप में लक्षणा-वृत्ति से प्रयुक्त होता है, तब सकर्मक क्रियाएँ अकर्मक नहीं होतीं; क्योंकि कर्म तो अपने असली रूप में रहता ही है। 'बटलोही चावल पकाती है' 'तलवार शत्रु-शिर काटती है' यहाँ 'चावल' तथा 'शिर' कर्म हैं और अपने असली रूप में हैं।

विशेषण और उसके भेद

जिससे किसी की विशेषता मालूम हो, वह 'विशेषण'। इस प्रकार 'विशेषण' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ ही इतना स्पष्ट है कि इसका लक्षण आदि करना आवश्यक नहीं।

विशेषता व्यक्तियों में, जाति में, गुण में, भावना में और क्रिया में, सर्वत्र हो सकती है। जो जिसकी विशेषता प्रकट करे, वह उसका विशेषण। 'अच्छे लड़के पढ़ने में मन देते हैं' यहाँ 'अच्छा' शब्द लड़कों की विशेषता प्रकट करता है; अतः उनका

विशेषण हुआ। शब्दार्थ में अभेद होने से यही विशेषण 'संज्ञा-विशेषण' कहलाते हैं।

ये संज्ञा-विशेषण दो तरह से प्रयुक्त होते हैं—१—उद्देश्यात्मक और २—विधेयात्मक। 'अच्छे लड़के पढ़ते हैं' में 'अच्छा' शब्द उद्देश्यात्मक विशेषण है; क्योंकि वाक्य में 'पढ़ने' का विधान है' 'अच्छेपन' का नहीं। परन्तु 'यह लड़का अच्छा है' इस वाक्य मे 'अच्छा' विधेयात्मक विशेषण है; क्योंकि 'अच्छे-पन का विधान है। इसी विधेयात्मक विशेषण को हिन्दी-व्याकरणों मे 'पूरक' कहा गया है। 'पूरक' की अपेक्षा 'पूरक विशेषण' कह दिया जाय, तो स्पष्टता आ जाती है। केवल 'पूरक' कहने से छात्रों में भ्रम फैलता है कि यह विशेषण से पृथक् कोई चींज है। वस्तुतः तो 'विधेयात्मक विशेषण ही इस का अन्वर्थ नाम है।

विशेषण का भी विशेषण होता है; जैसे:—'राम बड़ा अच्छा लड़का है'। यहाँ लड़के का विशेषण 'अच्छा' है और 'अच्छे' का 'विशेषण 'बड़ा'। यह विशेषण का विशेषण हुआ। इसी को 'अन्तर्विशेषण' भी कहते हैं।

जो क्रिया की विशेषता प्रकट करे, वह 'क्रिया-विशेषण' कहलाता है। राम हँसता है' इस वाक्य में क्रिया 'हँसना' निर्विशेष है। साधारणतः हँसने का बोध होता है। परन्तु 'राम जोर से हँसता है' 'राम खूब हँसता है 'राम थोड़ा हँसता है इन वाक्यों में क्रिया सविशेषण है। उसकी विशेषता

मालूम पड़ती है। खूब, थोड़ा, जोर से, ये शब्द क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं। इसलिए ये 'क्रिया-विशेषण हुए। इसी तरह 'हम आनन्द से सोये' 'तू बुरी तरह रोता है' 'रमेश मजे का पढ़ता है' इन वाक्यों में क्रियाएँ विशेषणों के साथ हैं।

'गुरु' जी के क्रिया-विशेषण

पं० कामता प्रसाद 'गुरु' ने तथा उनके अनुसार चल कर हिन्दी के अन्यान्य सभी व्याकरणकारों ने क्रिया-विशेषण के सम्बन्ध में भी बहुत गड़बड़ पैदा कर दी है। इन्होंने 'क्रिया-विशेषण' का लक्षण तो ठीक लिखा है कि 'जिससे क्रिया की विशेषता मालूम हो, वह क्रिया-विशेषण'; परन्तु उदाहरण देने में सब बिगाड़ दिया है?

'गुरु' जी ने तथा अन्यान्य व्याकरणकारों ने 'जब' 'तब' 'अभी' 'इधर' 'उधर' 'यहाँ' 'वहाँ' आदि सभी अव्ययों को 'क्रिया-विशेषण' मान लिया है और बड़े विस्तार से इनका निरूपण किया है! यह सब भ्रम है और अंग्रेजी भाषा के व्याकरण के अन्धानुकरण का फल है। 'जब' 'तब' आदि 'क्रिया-विशेषण' नहीं हैं; समयादि-सूचक अव्यय हैं। जो अव्यय हो, वह 'क्रिया-विशेषण' भी जरूर हो, यह कोई नियम नहीं है। यदि कोई अव्यय क्रिया की विशेषता बतलाता है, तब वह अवश्य 'क्रिया-विशेषण' होगा; अन्यथा हर्गिज नहीं। आप देखिए—'जब मोहन पढ़ता है, तब मैं नहाता हूँ' यहाँ 'जब' से 'पढ़ने' में और 'तब' से 'नहाने' में क्या विशेषता मालूम होती

है ? सिर्फ क्रिया का समय बतलाते हैं। समय या स्थान का बतलाना उसमें विशेषता प्रकट करना नहीं है। क्रिया मे कोई विशेषता नहीं मालूम हुई। और, यदि समयादि-सूचक अव्ययों को क्रिया-विशेषण माना ही जाय, तो फिर 'जिस समय मोहन पढ़ता है, उस समय मैं नहाता हूँ' यहाँ 'जिस समय' और 'उस समय' क्रिया-विशेषण क्यों नहीं ? यह नियम कैसे बना लिया गया कि समय तथा स्थान आदि के वाचक जो अव्यय शब्द हों, वही क्रिया-विशेषण हो सकते हैं, दूसरे नहीं ? नियम बनाने में कोई हेतु या युक्ति दिये बिना 'राजाज्ञा' मात्र कैसे मान ली जाय ? यह तो व्याकरण है, शब्द-विचार है। यहाँ ऐसी बातों से कैसे काम चलेगा ?

इस तरह 'जब' 'तब' आदि समय-सूचक अव्यय क्रिया-विशेषण नहीं हैं। इनसे क्रिया में कोई विशेषता नहीं मालूम होती। तब क्रिया विशेषण इन्हें कैसे कहा जाय ? यदि कोई अव्यय किसी क्रिया की विशेषता प्रकट करता है, तब अवश्य वह 'क्रिया विशेषण' कहलायेगा।

सभी अव्ययों को 'क्रिया विशेषण' मान कर हिन्दी-व्याकरणों में पचास-पचास पन्ने रँग डाले-गये हैं। विद्यार्थी इन्हें रटते रहते हैं और व्याकरणकारों को कोसते रहते हैं; जो उन बेचारों के ध्यान, समय तथा दिमाग को नष्ट करके मजे करते हैं और बदले मे उन्हें 'अज्ञान' देते हैं। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा एम० ए० ने व्रजभाषा में भी अब, जब, तब, तहां, इतै, उतै आदि

अव्ययों को 'क्रिया-विशेषण' मान लिया है, और इन (क्रिया-विशेषणों) की एक लम्बी सूची दी है। सो सब गलत है, गड्डलिका-प्रवाह है। इन सब भूलों और गलतियों का उत्तर-दायित्व 'गुरु' जी के व्याकरण पर है, जिसे काशी की 'सभा' ने प्रमाणित करके प्रकाशित किया था। उसी के अनुसार ये सब चले हैं, चलते हैं।

वस्तुतः 'क्रिया-विशेषण' बहुत सरल चीज है। किसी तरह की कोई उलझन है ही नहीं। न इसके वैसे भीषण विस्तार की जरूरत है। मामूली सी बात है, चार अक्षरों में समझा देने की।

हाँ, संज्ञा-विशेषणों की तरह क्रिया विशेषणों के भी प्रकार हैं। 'राम जोर से हँसा' यह परिमाण-वाचक क्रिया-विशेषण। 'तोता मीठा बोलता है' यहाँ 'गुण-वाचक' क्रिया-विशेषण है। क्रिया में संख्या होती ही नहीं; इसलिए संख्या-वाचक क्रिया-विशेषण कैसे हो ?

यदि 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा 'गुरु' जी के हिन्दी-व्याकरण का संशोधन करा दे, तो यह सब अन्धकार दूर हो जाय, और एक छोटा-सा चुस्त हिन्दी-व्याकरण बन जाय। तब अन्य व्याकरण भी ठीक हो जायँ, जो उसका अनुगमन करते हैं। यदि 'सभा' ऐसा नहीं करती, तो जनता को गुमराह करने का और हिन्दी भाषा के प्रति अन्याय करने का बड़ा दोष उसके सिर रहेगा ही।

प्रयोग-भेद से शब्द-भेद

भाषा में प्रयोग–भेद से शब्द-भेद होता है। जैसे, एक ही आदमी अपनी दूकान में दूकानदार, जमींदारी में जमींदार और ठेके के काम पर ठेकेदार हो सकता है, उसी तरह एक ही शब्द संज्ञा-विशेषण तथा क्रिया-विशेषण आदि हो सकता है। 'थोड़े आदमी रह गये हैं' मे 'थोड़ा' शब्द आदमियों की संख्या बतलाता है, अनिश्चित संख्या—इसलिए अनिश्चित सख्या-वाचक' संज्ञा-विशेषण है। 'थोड़ा दूध लाओ' में वही शब्द दूध का अनिश्चित परिमाण बतलाता है; इसलिए परिमाण-वाचक सज्ञा-विशेषण है। 'थोड़ा गाओ' में वही शब्द गाने क्रिया का परिमाण बतलाता है; इसलिए क्रिया-विशेषण है, वही अनिश्चित-परिमाण-वाचक।

इसी तरह प्रयोग-भेद को ध्यान में रख कर सब समझना चाहिए।

कुछ फुटकर बातें

'व्याकरण की अनियमित बातें'! हिन्दी के प्रायः सभी व्याकरण ग्रन्थों के अन्त मे एक ऐसा अध्याय रहता है, जिसमें 'व्याकरण की कुछ अनियमित बातें' शीर्षक देकर बहुत कुछ लिखा रहता है। यह 'अनियमित' व्याकरण की बातों का विशेषण होने से स्पष्ट है कि व्याकरणकार इन बातों में नियम नहीं बना पाये। ऐसी दशा मे व्याकरणकार की कमजोरी है। उसे तो भाषा के प्रत्येक अंग-उपाङ्ग पर सूक्ष्म तथा पूर्ण विवेचन

करके नियम निर्धारित करने चाहिए। तभी तो उसकी पूर्णता है। भाषा में कभी भी अनियमितता नहीं रह सकती। वहां जो कुछ है, नैसर्गिक नियम से है। व्याकरण उसी का अनुसरण करके संज्ञा-परिभाषा आदि के द्वारा समझाता है। हमारी भाषा हिन्दी-पूर्ण वैज्ञानिक नियमों से घटित है। इसमें जरा भी अनियमितता नहीं है। ऐसी दशा में यदि कोई इसका व्याकरण बनावे और उसे नियमों से समलंकृत न कर सके, 'अनियमितता' बनी रहे, तो यह खुद उसका दोष है; भाषा का या उसके व्याकरण का नहीं। इस तरह की बातें लिख कर लोग अपनी भाषा का महत्त्व कम करते हैं।

वस्तुतः यहाँ कोई अनियमितता नहीं है। उदाहरण के तौर पर हम प० चन्द्रमौलि सुकुल के 'भाषा-व्याकरण-बोध' से कुछ तथोक्त 'अनियमित' बातें दे रहे हैं। आप देखें, अनियमितता कहाँ है।

उक्त व्याकरण के १६ वें अध्याय में, 'अनियमित बातें' बतलायी गयी हैं। नमूने लीजिए—

"१—अकर्मक क्रिया 'आना' 'जाना' 'लौटना' 'भागना' आदि के साथ कर्म के से रूप का प्रयोग; जैसे—मै बनारस को गया, रामचन्द्रजी बन को गये, तुम कचहरी को लौटो आदि। यहाँ 'को' चिह्न यथार्थं कर्म-सूचक नहीं, किन्तु स्थान-सूचक है। जिस प्रकार 'दिन को धूप निकलती है' इत्यादि वाक्यों में 'को' शब्द समय-सूचक अधिकरण का चिन्ह है. उसी प्रकार

आना-जाना आदि क्रियाओं के साथ 'को' शब्द स्थान सूचक अधिकरण कारक का चिन्ह है।"

व्याकरणकार ने यह पहली 'अनियमितता' बतलायी है, जो उनका भ्रम मात्र है। आना-जाना आदि क्रियाएँ अकर्मक नहीं हैं। हां, विवक्षा न हो, तो उनका अकर्मक प्रयोग जरूर होता है—मैं न जाऊँगा, इत्यादि। परन्तु 'मैं बनारस को गया' 'राम कचहरी को लौटा' 'गोविन्द काशी को आता है' इत्यादि में जाना लौटना तथा आना क्रियाएँ सकर्मक हैं और यहां 'बनारस' 'कचहरी' तथा 'काशी' उनके कर्म हैं। स्थान भी कर्म होता है, सदा अधिकरण ही नहीं रहता। 'स्थान' कर्म ही नहीं, कर्ता, करण, अपादान, अधिकरण, सम्प्रदान आदि सभी कुछ होता है, और 'संबन्ध' भी। इसलिए यहां बनारस आदि कर्म हैं। 'को' विभक्ति को स्थान-सूचक बतलाना व्याकरणकार की गलती है। बनारस आदि स्वयं स्थान हैं। 'को' उन का 'सूचक' नहीं है। 'को' विभक्ति तो यहां कर्म-सूचक ही है। कहीं कर्ता, सम्प्रदान आदि की सूचक भी होती है। सब स्पष्ट है।

'मैं बनारस को जाता हूँ' यहाँ 'जाना' क्रिया का कर्म 'बनारस' है, अधिकरण नहीं। 'अधिकरण' तो आधार को कहते हैं। जब तक कोई किसी का आधार न हो, 'अधिकरण' कैसे कहा जा सकता है? 'मैं बनारस में घूमता हूँ' 'बच्चा पालने में सोता है, 'पत्ते पर बूँद है' इन वाक्यों में मेरा, बच्चे का तथा बूँद का आधार क्रम से बनारस, पालना, पत्ता हैं; बल्कि मेरा,

बच्चे का तथा बूँद का नहीं—मेरे घूमने का बच्चे के झूलने का तथा बूँद के होने (ठहरने) के आधार वे सब हैं। 'बच्चा पालने में झूलता है' यहाँ तो 'पालना' आधार या अधिकरण है; परन्तु 'बच्चा पालने को जाता है', यहाँ 'पालना' कैसे आधार या अधिकरण हो गया ? 'बच्चा' 'पालने' में मौजूद नहीं है, उसे प्राप्त करने के उद्योग में है। तब यह 'कर्म' हुआ या अधिकरण ?' इसी तरह 'आना' आदि के वे कर्म हैं। 'बच्चा गेंद को दौड़ता है' यहाँ 'गेंद' कर्म है; पर 'चींटी गेंद पर दौड़ती है' यहाँ 'गेंद' चींटी के दौड़ने का आधार होने से अधिकरण है।

इस तरह सब साफ तथा नियमित है, जिसे 'अनियमित' कहा गया है।

२—"गोपाल को पत्र लिखना है', 'शंकर को पिता जी की सेवा करनी चाहिए; इन वाक्यों में 'लिखने' और 'कहने' के यथार्थ कर्ता गोपाल शंकर हैं, जो 'कर्म' कारक के रूप में प्रकट हैं। फिर भी, क्रियाओं के कर्म 'पत्र' और 'सेवा' विद्यमान हैं।"

यह दूसरी अनियमितता बतलायी गयी है, जो विभक्तियों को ही कारक समझ लेने का दुष्परिणाम है। वस्तुतः 'कर्ता' कर्ता ही है। वह 'कर्म' कहाँ बन गया ? 'को' विभक्ति तो कर्ता, कर्म, सम्प्रदान, अधिकरण आदि सभी कारकों में लगती है। परन्तु यह विभक्ति ही तो 'कारक' नहीं है न !

सब साफ है। उद्धृत वाक्यों में 'गोपाल' तथा 'शंकर' कर्ता कारक हैं, क्रियाओं के करनेवाले। 'पत्र' तथा 'सेवा' कर्म कारक

है। इससे अधिक स्पष्टता तथा नियमितता क्या होगी ? 'दिन को आना' यहाँ 'को' अवश्य अधिकरणत्व-सूचक है—दिन में आना।

एक-एक विभक्ति अनेक कारकों में लगती है। इसमें अनियमितता क्या है ? सस्कृत में 'भ्याम्' विभक्ति करण, सम्प्रदान तथा अपादान, इन तीन कारकों में काम आती है और 'ओस' सम्वन्ध तथा अधिकरण में। परन्तु इससे अनियमितता कहाँ आती है ? जहाँ कर्म है, कर्म रहेगा; अधिकरण है, अधिकरण रहेगा।

जब तक व्याकरणकार 'को' आदि विभक्तियों को कारक समझते रहेंगे, तब तक यह 'अनियमितता' न मिटेगी।

इसी तरह की प्राय: सब व्याकरणकारों ने बहुत-सी-अनियमित बातें लिखी हैं और इसके लिए एक-एक अध्याय ही पृथक् रखा है।

सो, यह सब अज्ञान-विजृम्भण मात्र है। न कहीं भाषा में अनियमितता है, न शिथिलता। हमारी भाषा खूब चुस्त और गँठी हुई है। अफसोस ! इसका व्याकरण बनानेवाले ही इस पर 'अनियमितता' का इल्जाम लगा कर बदनाम कर रहे हैं—शुभ्र ज्योत्स्ना में अँधेरा देख रहे हैं !

अवश्य ही कहीं कुछ शब्द या प्रयोग व्यापक नियमों की परिधि में नहीं आते और तब उन्हें 'बाहुलक' कह दिया जाता है। परन्तु जो बातें हिन्दी-व्याकरणकारों ने 'अनियमित' बत-

लायी है, वे वैसी नहीं हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा के सम्बन्ध में भी इसी तरह की बातें लिखी हैं। सो सब पीछे किये विवेचन से निराकृत हुईं।

व्याकरण और छन्द शास्त्र

व्याकरण ग्रन्थों में ही अलंकार, रस तथा छन्द शास्त्र का विवेचन-निरूपण चल पड़ा है। यह बिलकुल 'गंगा की गैल में मदार के गीत' बे-मजे तथा भद्दे हैं। अलंकार तथा छन्द शास्त्र भिन्न-भिन्न विषय हैं। व्याकरण-ग्रन्थों में इनकी खिचड़ी पकाने से विषय-सांकर्य हो जाता है और प्रतिपाद्य मुख्य विषय में कमी आ जाती है। इससे कोमलमति छात्र भ्रम में भी पड़ जाते हैं। अलंकार, रस या छन्द का आवश्यक ज्ञान कराना हो, तो इनके लिए पृथक् पाठ्य ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। पुस्तकें कम करने का ख्याल हो, तो अलंकार, रस तथा छन्द शास्त्र के आवश्यक ज्ञान के लिए छोटी-छोटी काव्य-परिचयात्मक पुस्तकें लिखायी जा सकती हैं; यानी एक ही पुस्तक में रस, अलंकार तथा छन्द का परिचय दिया जा सकता है। तीनों का मेल है, पूर्वोक्त दोनों काव्य-विषयों से छन्द का मेल है। कम से कम व्याकरण-जैसे गम्भीर विषय के साथ इन गम्भीर विभिन्न विषयों की खिचड़ी ठीक नहीं है। शिक्षा-विभाग में अन्य विषयों की सैकड़ों पुस्तकें चल रही हैं. वहाँ 'काव्य-विषयक' भी एक बढ़ जायगी। स्वतन्त्र होने से इन विषयों का महत्त्व भी बढ़ जायगा। छात्र कुछ ध्यान भी देंगे।

वैसे, रस तथा अलकार-सम्बन्धी जो सैकड़ों पुस्तकें हिन्दी मे चल रही हैं; उनमें व्याकरण-ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं ज्यादा गड़बड़ है, जिसकी ओर कई बार 'सभा-सम्मेलन' का ध्यान आकर्षित करने का उद्योग किया गया। फल कुछ नहीं! प्रायः सब रस-अलकार-सम्बन्धी पुस्तकें 'अथ' से 'इति' तक गलत हैं! पर चल रही हैं। लोग धन और यश कमा रहे हैं। छात्रों का दिमाग तथा समय नष्ट हो रहा है; और फलतः रस-अलंकार जैसे परमोपयोगी विषयों से लोगों की अरुचि हो रही है।

जब कभी हिन्दीवाले चेतेंगे, या अपनी सरकार कायम होने पर शिक्षा-विभाग का सुधार होगा, तब सब ठीक हो जायगा।

क्रिया किसके अधीन ?

इन फुटकर बातों में एक चीज और ले लीजिए। जब किसी वाक्य मे विभिन्न पुरुष-वचन आदि के 'कर्ता' एकत्र हों और एक ही क्रिया से उनका सम्बन्ध हो, तो वह (क्रिया) किसके अधीन रहे ? उसका पुरुष-वचन आदि क्या हो ? इस पर प्रायः सभी व्याकरणकारों ने लिखा है कि अन्तिम कर्ता के अनुसार क्रिया होगी। जैसे—जैसा आप का निर्णय और सलाह होगी, वैसा किया जायगा। 'निर्णय' तथा 'सलाह' में दो 'कर्ता' यहाँ 'होना' क्रिया के हैं। एक पुल्लिंग, दूसरा स्त्रीलिंग। क्रिया अन्तिम कर्ता के अनुसार स्त्रीलिंग है। इसी को 'जैसा आप की सलाह और निर्णय होगा, वैसा किया जायगा'। यों भी कर सकते हैं। अन्त

में 'निर्णय' कर्ता पुल्लिंग होने से क्रिया उसी के अनुसार हुई।

यह ठीक है; परन्तु कुछ दूसरी तरह के प्रयोग भी देखने में आते हैं। 'कश्यप और अदिति प्रणाम करते हैं' 'देखि रूप मोहे नर-नारी' इत्यादि। इसका मतलब यह है कि अन्तिम कर्ता के अनुसार क्रिया होती है सही; पर जब 'स्त्री-पुरुष' या 'नर-नारी' जैसे जोड़ेवाले शब्द 'कर्ता' कारक हों, तब पुल्लिंग ही क्रिया होती है, चाहे अन्त में स्त्रीलिंग ही क्यों न हो! इसका कारण यह है कि वाक्य-प्रयोग में पुल्लिंग ही प्रधान होता है, और इसीलिए कभी-कभी वह स्त्री-कारकों का प्रतिनिधित्व भी करता है। 'वन में हिरन घूमते हैं' यहाँ 'हिरन' से 'हिरन-हिरनी' दोनों का मतलब है। इसी को व्याकरण में 'एक शेष' कहते हैं; अर्थात् स्त्रीलिंग का लोप हो गया।

लिंग-निर्णय

हिन्दी में शब्दों के लिङ्ग प्राय: उनकी बनावट पर हैं; जैसे ईकारान्त शब्द प्राय: स्त्रीलिंग होते हैं और आकारान्त 'डंडा' आदि प्राय: पुल्लिंग। इसके अपवाद भी हैं; जो व्यवहार से झट समझ में आ जाते हैं। व्याकरण में शब्दों के लिंग-निर्णय पर ज्यादा जोर नहीं दिया गया है और संस्कृत व्याकरणकारों ने तो यहाँ तक लिख दिया है—'लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य। कौन शब्द पुल्लिंग बोला जाय, कौन स्त्रीलिंग, इस प्रकार का अनुशासन ठीक नहीं है; क्योंकि

शब्दों का लिङ्ग-व्यवहार दुनियाँ के अधीन है। जिस शब्द का जिस लिंग में प्रयोग होता है, उसी में रहेगा। उसमें कोई व्याकरण परिवर्तन नहीं कर सकता। हाँ, प्रयोग देख कर उन्हीं के अनुसार कुछ नियम निर्धारित किये जा सकते हैं और किये जाने चाहिए। अ-हिन्दीभाषी प्रान्तों को इस प्रकार के नियम-निर्धारण से विशेष लाभ होगा। यह कोई 'अनियमित' बात नही है कि जिसका नियम न बनाया जा सके। पर, वह नियम भाषा की प्रकृति के अनुसार होना चाहिए, नकि अपनी सुविधा के अनुसार।

'सम्मेलन' का दिल्ली-अधिवेशन जो बड़ौदा महाराज की अध्यक्षता में हुआ था और उनकी अनुपस्थिति में जहाँ श्रीहरि-औध जी ने कार्यवाहक अध्यक्ष पद सँभाला था, उसमें मदरासी भाइयों की ओर से एक ऐसा प्रस्ताव रखा गया था और पास हुआ था कि हिन्दी-शब्दों के लिंग-निर्णय की व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु उनका आशय कुछ ऐसा था, जिससे हिन्दी की प्राकृतिक धारा हट कर एक नहर सी बन जाती। इसीलिए मेरे जैसे आदमियों ने उसका विरोध किया था। उस सम्बन्ध में कुछ भी न हो सका; यद्यपि राष्ट्र-हित की दृष्टि से माननीय टंडन जी का समर्थन की उक्त प्रस्ताव को प्राप्त था।

मतलब यह कि भाषा का प्राकृतिक प्रवाह न बदलना चाहिए; न सरलता से बदला ही जा सकता है। इसलिए उसके अनुसार ही सब कुछ होना चाहिए।

व्याकरण में अनावश्यक बातें

हिन्दी-व्याकरणों में बहुत-सी अनावश्यक बातें भर दी जाती हैं। पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत की वे सन्धियाँ हिन्दी-व्याकरण में देना ठीक नहीं है, जिनका काम यहाँ नहीं पड़ता इसी तरह वर्णों के आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न देना तथा इनका विस्तार से वर्णन करना बिलकुल अनावश्यक है, गोरखधन्धा है। बात यह है कि अत्यन्त प्राचीन युग में न जाने किस दृष्टि से यह प्रयत्न-व्यवस्था की गयी थी और इसका न जाने क्या अभिप्राय था! मालूम नहीं, उस समय वर्णों का उच्चारण कैसा था। तब उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नाम के तीन विशेष 'स्वर' भी थे, जिनसे अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति भी होती थी। वह सब हम भूल गये! इसी तरह शायद 'ऋ' और 'ऌ' का असली उच्चारण भी भूल गये! इन का जो वर्तमान उच्चारण है, वह सही नहीं जान पड़ता; क्योंकि 'र' 'इ' के साथ मिला देने से वही उच्चारण होता है—'र' में 'इ' की मात्रा—'रि' और 'ऋ'। उच्चारण में क्या अन्तर है? 'ल' में 'र' के साथ 'इ' की मात्रा लगा देने से 'लृ' हुआ और 'ऌ' स्वर का उच्चारण भी यही है। जब यों व्यंजनों के साथ मिल कर इनकी अभिव्यक्ति है, तब स्वर कैसे रहे? 'ऋ' बोलने में 'र' आ गया और 'ऌ' से 'ल' 'र'। और किसी स्वर में तो ऐसा नहीं है! इससे स्पष्ट है कि इन दोनों स्वरों का असली उच्चारण हम भूल गये हैं। महाराष्ट्र में 'ऋ' का उच्चारण 'रु' होता है। उसमें भी वहीं दोष है, जो 'रि' उच्चारण में।

सारांश यह कि बहुत-सी बातें हम भूल गये हैं। भाषा-विकास की तरह उच्चारण में भी विकास या परिवर्तन होता रहता है। इसलिए, प्राचीनतम वैदिक युग के उच्चारण में और इस समय के उच्चारण में काफी अन्तर आ गया है। तब कैसे पता चले कि 'प्रयत्न' क्या चीज है, और इनका क्या उपयोग है? हाँ, वर्णों के कंठ आदि स्थान ठीक ही हैं। तो, जब प्रयत्नों का हमें पता नहीं, तब उनका वर्णन क्यों किया जाय? छात्रों को धोखा दे कर रट्टू क्यों बनाया जाय? इस समय इसकी जरूरत हिन्दी व्याकरण को नहीं है।

इस प्रकार हमने अति सक्षेप से हिन्दी-व्याकरणों के उन स्थलों पर विचार किया, जिनका संशोधन आवश्यक है। यदि यों विचार किये बिना हम आगे बढ़ते, तो शायद हमें ही पाठक गलत समझते; जब हम लिखते कि 'ब्रजभाषा में भूतकाल की सकर्मक क्रियाएँ कर्मवाच्य होती हैं; जैसे—'मैं देखी सो गोपी' या 'स्याम ने गही एक परिपाटी' आदि। लोग कहते, इन कर्तृवाच्य क्रियाओं को यह कर्मवाच्य कैसे लिख रहा है? जब डाक्टर बाबूराम सक्सेना और डा० धीरेन्द्र वर्मा जैसे विद्वान् भी इन गलत 'व्याकरणों के चक्कर में आ गये, तब साधारण पाठकों का कहना ही क्या! 'जेहि मारुत गिरि-मेरु उड़ाहीं, कहहु तूल केहि लेखे माहीं!' कहीं मैं ही गलत न समझा जाऊँ; इस आशका ने प्रेरित,किया कि प्रचलित हिन्दी-व्याकरणों पर आवश्यक विचार करके ही आगे बढ़ा जाय। सो सब हो चुका। यद्यपि

कुछ और भी बातें विचारणीय हैं; परन्तु उन्हें छोड़े देता हूँ। भूमिका बढ़ी जा रही है, पुस्तक से भी अधिक। फिर कभी कहीं शेष विषयों पर विचार किया जायगा। परन्तु आवश्यक सब बातें आ गयीं।

ब्रजभाषा का स्वरूप

मैंने अपनी 'तरंगिणी' की भूमिका में ब्रजभाषा के स्वरूप तथा उसकी स्थिति के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। वहीं से आवश्यक अंश लाकर यहाँ रख देना मेरे लिए बहुत सरल काम होगा। सम्भव है, इस कतर-ब्योंत के कारण पीछे कही हुई बातों की कहीं द्विरुक्ति भी हो जाय। सो, कृपा कर उसे ध्यान में न लावें।

वर्तमान मथुरा जिले में और उसके चारों ओर दूर-दूर तक ब्रजभाषा का राज्य है। उधर ग्वालियर तथा धौलपुर राज्य और बुंदेलखण्ड, इधर अलीगढ़, बदायूं, मैनपुरी आदि के जिले और इसी प्रकार चारों ओर इस भाषा ने अपना कब्जा कर रखा है। परन्तु, विशुद्ध ब्रजभाषा मथुरा और उसके ओर पास के जिलों ही में समझी जाती है। कुछ भी हो, करोड़ों आदमी अभी इस भाषा-द्वारा अपने भावों का आदान-प्रदान करते हैं और इसलिए यह जीती-जागती भाषा है।

वस्तुतः ब्रजभाषा भी हिन्दी की अन्यान्य 'बोलियों' की तरह एक 'बोली' है, कोई भिन्न भाषा नहीं है। परन्तु इसका महत्त्व-द्योतन करने के लिये 'ब्रज-बोली' न कहकर 'ब्रजभाषा' इस गौरवमय व्यापकतापूर्ण नाम से इसका सम्मान बहुत दिनों

से करते आये हैं, न जाने कबसे। जैसे, 'मेरठी' बोली को अब कोई 'बोली' न कहकर सब 'राष्ट्रभाषा' के नाम से पुकारते हैं, उसी तरह।

ब्रजभाषा और साहित्य

हिन्दी की जितनी भी 'बोलियाँ' हैं, सबसे बढ़कर ब्रजभाषा का साहित्य है और सबसे ज्यादा। हिन्दी की अन्यान्य बोलियों को छोड़कर क्यों ब्रजभाषा ही उस युग में 'साहित्य की भाषा' बनाई गई? इसके कारण हैं। हमारे पुराने साहित्य के प्रायः सभी महारथी वैष्णव थे, जिनकी श्रद्धा ब्रज पर और ब्रजभाषा पर सबसे ज्यादा थी। परन्तु इससे भी बढ़कर इस भाषा की मधुरता और स्पष्टता थी, जिसने साहित्यिकों का मन चुरा लिया। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपनी बहुत-सी रचना इस मीठी भाषा में की। 'रहीम' और 'रसखान' जैसे फारसी के सपूतों ने भी इसकी पद-वन्दना की। ब्रजभाषा में वे सब गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, जो किसी काव्य-भाषा में चाहिए। थोड़े में बहुत कह देने की अनुपम शक्ति जो इस (ब्रजभाषा) में है, वह संस्कृत को छोड़ कर और किसी भी भाषा में नहीं है। यह इसकी स्वाभाविक शक्ति है। ब्रजभाषा के छोटे-छोटे मधुर पद जब अपना अर्थ-विस्तार दिखाते हैं, तो भगवान् वामन का स्मरण हो आता है। दूसरी बात यह है कि ब्रजभाषा स्वभावतः इतनी मधुर है, जितनी संसार की कोई भी दूसरी भाषा नहीं, संस्कृत भी

नहीं। जो बात 'पिय' में है, वह 'प्रिय' में कहाँ है ? 'हृदय' की कटुता 'हिय' में भी क्या है ? इसी प्रकार कारक-विभक्तियों में भी संक्षेप और मार्दव है। इसके इन्हीं गुणों से साहित्यिक इधर आकृष्ट हुए। संस्कृत आदि भाषाएँ स्वतः इतनी मधुर नहीं हैं, कविजन अपनी कारीगरी से उन में वैसी मधुरता लाये हैं। ब्रजभाषा में अपना मिठास है। ब्रजभाषा भी अपनी पूर्ववर्तिनी भाषाओं का विकसित रूप है; पर यह विकास अपने-आप प्राकृतिक ढँग पर हुआ है। अपने-आप पके हुए फल में जो स्वाद होता है, वह पाल में कहाँ ? इसीलिये उन शब्दों में यह मिठास नहीं होता, जो संस्कृत आदि शब्दों को तोड़-मरोड़ कर गढ़े जाते हैं।

ब्रजभाषा के इन गुणों पर मुग्ध होकर जनता ने इसे अपनाया, साहित्य की भाषा बनाया। ब्रजभाषा में जैसे साहित्य की सृष्टि हुई है, वैसा अभी तक संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा में उपलब्ध नहीं है।

ब्रजभाषा की व्यापकता

जब ब्रजभाषा में साहित्य बनने लगा, तो इसकी प्रसिद्धि और भी बढ़ी। दूर-दूर तक ब्रजभापा-साहित्य पहुँचा। अहिन्दी-भाषी प्रान्त भी मोहित हो गये। युक्त-प्रान्त और मध्य-प्रान्त ही नहीं, गुजरात, काठियावाड़, दक्षिण भारत, बंगाल, उड़ीसा आदि सर्वत्र, भारत के कोने-कोने में ब्रजभाषा के गीत गाये जाने लगे। बंगाल, उड़ीसा और गुजरात पर तो बहुत ही अधिक

प्रभाव पड़ा। अनेक मैथिल, बंगाली, गुजराती और मदरासी कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की। नरसी भक्त और नामदेव के ब्रजभापा-पद आज भी महात्मा गान्धी-जैसी आत्माओं के आराध्य हैं। इन सब अहिन्दी-भाषी महात्माओं ने ब्रजभाषा में कविता करके उसे उस समय एक प्रकार से 'राष्ट्रभाषा' ही स्वीकार कर लिया था। यों हिन्दी बहुत पहले से राष्ट्रभाषा है।

ब्रजभाषा उन दिनों सर्वत्र खूब समझी जाती थी। तभी तो महाकवि भूषण की कविता छत्रपति शिवा जी तथा उनके देशवासी अच्छी तरह समझते थे और कद्र करते थे। भूषण की फड़कती हुई कविता को देखकर यह बात भी समझ में आ जाती है कि शृङ्गार आदि रसों में कोमल और स्वभावतः कोमल ब्रजभापा वीर आदि उद्भट रसों के अभिव्यञ्जन में कैसा विकट रूप धारण कर लेती है। यही तो भाषा का गुण है। कान्त-विहार में मृदु-प्रसन्न क्षत्रिय वीराङ्गनाएँ रणाङ्गण में पहुँचकर दुर्निरीक्ष्य सिंहिनी बन जायँ, तो कौन-सी आश्चर्य की बात है?

तो, उस समय, अबसे सैकड़ों वर्ष पहले, ब्रजभाषा देश की, काव्य-जगत् की, राष्ट्रभाषा बन चुकी थी। गद्य उस समय था ही नहीं। प्रत्येक भाषा में पहले पद्य-साहित्य की सृष्टि हुई है, तब गद्य की। हिन्दी मे भी ऐसा ही हुआ है। जब गद्य का युग आया, तो ब्रजभाषा को उसके अनुकूल न पाकर और मेरठी बोली में आवश्यक गुण देख कर, इसे ही गद्य की राष्ट्र-

भाषा स्वीकार किया गया। अब इसमें कविता भी सुन्दर शब्दों में होने लगी है, भाषा मँजने लगी है, और अब यह 'खड़ी' बोली खरी हो गयी है।

ब्रजभाषा का परिष्कार

जब कोई 'बोली' या भाषा साहित्य की भाषा बनती है, तब उसमें बहुत कुछ परिष्कार होता है, जैसी की तैसी वह उसी रूप में नहीं ले ली जाती। मेरठ डिवीजन में बोलते हैं—'मन्ने रोट्टी खाई।' इसे जब साहित्य की भाषा बनाया, तो द्वित्व की कर्णकटुता दूर कर के शब्द यों कर लिये—'मैं ने रोटी खाई।' प्रत्येक भाषा में ऐसा ही होता है, ब्रजभाषा में भी हुआ है। ब्रज में बोले जानेवाले कर्ण-कटु तथा नितान्त ग्राम्य शब्द साहित्यक ब्रजभाषा में गृहीत नहीं हुए हैं। ब्रज में प्रातःकाल को 'धौताए" कहते हैं, जो कानों में गोला सा मारता है। ब्रजभाषा के साहित्य में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता, 'प्रात' 'सबेरे' आदि दिये जाते हैं।

इसी प्रकार कारकोंकी विभक्तियों में भी परिवर्तन तथा परिष्कार हुआ है। ब्रज में बोला जाता है—'राम कूं देखि ले।' साहित्यिक ब्रजभाषा में 'कूं' 'कौं' के रूप में आ गया है। इसी प्रकार बहुत सा परिवर्तन तथा परिष्कार हुआ है। इसलिये ब्रजभाषा-कविता की भाषा को ब्रज में बोली जाने वाली 'बोली' से बिलकुल मिलाकर देखना गलती है। दोनों में वही अन्तर मिलेगा, जो सुन्दर उपवन में और कुदरती जंगल में होता है।

ब्रज-भाषा पर दूसरी भाषाओं का प्रभाव

प्रत्येक जीवित भाषा पर दूसरी पार्श्ववर्तिनी भाषाओं का प्रभाव पड़ता है और जबर्दस्त भाषा दूसरी भाषाओं के शब्द झपट कर अपने बना लेती है। यही नहीं, दूसरी भाषा के कारक चिह्न भी कुछ-कुछ आ मिलते हैं--कृपाकर जाइए, 'कृपया' जाइए। 'कृपया' में संस्कृत का कारक-चिह्न हिन्दी में बोला जाता है। उपसर्ग आदि भी आ जाते हैं—' बेमौके '। 'बाकायदे' आदि।

ब्रजभाषा के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है। बुन्देलखंडी अवधी तथा मेरठी आदि बोलियों का प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्यिक ब्रजभाषा पर पड़ा है, विशेषतः बुन्देलखंडी का।

मैं साहित्यिक ब्रजभाषा की बात कर रहा हूँ, भौगोलिक-ब्रजबोली की नहीं। वह तो सकुचित दायरे मे है।

हाँ, तो साहित्यिक ब्रजभाषा पर हिन्दी की इन सभी बोलियों का प्रभाव पड़ा है। संस्कृत से तो बहुत कुछ लिया गया है, पर फारसी आदि से भी आवश्यक आदान हुआ है। बाबा भिखारीदास जी ने अपने ' काव्य-निर्णय' में लिखा है—

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब लोय।
मिलै संस्कृत फारसी, पै अति सुगम जु होय।

जैसे 'पराग', 'मधु', 'हवाल' आदि, जिनके न तो उच्चारण में कठिनता है और न अर्थ समझने में। इसी प्रकार 'अवधी बोली' के 'कनियाँ' 'तनक' 'जनि' आदि शब्द सूरदासजी जैसे

आदर्श ब्रजभाषा-कवि के ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। इस लिए, जो लोग 'रिसर्च' किया करते हैं कि अमुक पद्य में अमुक शब्द ब्रजभाषा का नहीं, अमुक बोली का है, वे व्यर्थ का गोरखधन्धा करते हैं, अगर उसे त्याज्य सकझते हैं, तो।

शब्द ही नहीं, कारक-चिह्न भी दूसरी 'बोलियों' से ब्रजभाषा में आकर मिल गए हैं। क्रियाओं की विभक्तियों में भी ऐसा ही हुआ है। एक-एक उदाहरण लीजिए।

ब्रज में कर्म-कारक का चिन्ह 'कूँ' प्रचलित है। यही 'कूँ' साहित्यिक ब्रजभाषा में आकर 'कौं' हो गया और बाद में 'को' भी। सो, ब्रजभाषा-कविता में 'कौं' और 'को' ये दोनों रूप मिलते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त एक और रूप ब्रजभाषा में, साहित्यिक-ब्रजभाषा में, प्रचलित है, जो सूरदास आदि के 'आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ' और 'सुत कौ जनम जसोदा के गृह, ता लगि तुमहिं बुलावति' इत्यादि पदों में प्रसिद्ध है। ब्रजभाषा की कविता में 'कौं' की अपेक्षा इस हिं' प्रत्यय ही के दर्शन अधिक होते हैं। इसका कारण कदाचित् मात्रा-लाघव हो। जो भी हो, ब्रजभाषा में अन्यत्र से यह 'हिं' विभक्ति आई है। ब्रजभाषा ने इसे अपना लिया है।

इसी प्रकार 'जैहै', 'करिहै', आदि भविष्यत् काल की क्रियाओं में जो 'इहै' विभक्ति नजर आती है, वह ब्रजभाषा में दूसरी जगह से आयी है। ब्रज में भविष्यत् काल प्रकट करने के लिये 'गो' प्रत्यय लगाते हैं, जो कर्त्ता के लिंग, पुरुष, वचन के

अनुसार अपने रूप में परिवर्तन करता रहता है—'तू जायगो', 'गंगा जायगी' इत्यादि। परन्तु 'इहै' प्रत्यय लगाकर जो भविष्यत् काल की क्रिया बनायी जाती है, उसके रूप में कर्ता के लिंग-भेद से कोई भेद नहीं होता, पुरुष तथा वचन के अनुसार अवश्य रूपान्तर हो जाता है। 'राम कहा करिहै जग में' और 'देवी दया करिहैं अब तौ' में देखिए, कोई अन्तर नहीं है। परन्तु वचन-भेद से 'मोहन पढ़िहै मन दै' और 'बालक पढ़िहैं' में रूपान्तर है। इसी प्रकार 'तू करिहै' और 'हौं करिहौ' में पुरुष-भेद से स्वरूप भेद होगया है। इस 'इहै' प्रत्यय का प्रयोग व्रजभाषा-कविता में खूब है। यह 'इहै' प्रत्यय तिङन्त हैं; इसीलिए लिङ्ग-भेद नहीं होता! विशेष क्रिया प्रकरण में देखिए।

इसी प्रकार बहुत कुछ अन्यत्र से आया है और व्रजभाषा में मिल गया है। यह सब होते हुए भी व्रजभाषा ने अपना स्वरूप सँभाल कर रक्खा है। दूसरी भाषा या बोली से उतना ही आदान उचित है, जितने से अपना स्वरूप न बिगड़े। जब अपनापन ही नष्ट हो गया, तब क्या? इसी लिए तो बाबा भिखारीदास जी ने कहा है—मिलै संस्कृत फारसी, पै अति सुगम जु होय।'

जिन शब्दों का व्यापक प्रचलन हो गया हो आसानी से समझ में आ जाते हो; उन्हीं का ग्रहण उचित है। जो शब्द अप्रचलित हों, या जिनका उच्चारण आदि अनुकूल न हो, वे कभी भी दूसरी भाषा में नहीं मिलाये जा सकते। हाँ, उच्चारण

आदि को अपने अनुकूल बनाकर ऐसे शब्द भी लिए जा सकते हैं, जो आवश्यक हों। ब्रजभाषा में संस्कृत का 'प्रिय' यदि 'पिय' बनकर आता है, तो हिन्दी का या संस्कृत का ही 'गंगा' शब्द अंग्रेजी में 'गंजिज' बनकर मिलता है और 'दिल्ली' बनता है 'डेलही'। इसी प्रकार अंग्रेजी का 'लैण्टर्न' खड़ी बोली में आकर 'लालटेन' हो गया है और 'हास्पिटल' ने 'अस्पताल' का रूप बनाया है। जब कोई किसी दूसरी जाति के आदमी को शुद्ध करके अपनी जाति में मिलाएगा, तो पहले उसके बाह्यरूप को, वेश-भूषा आदि को, अपने अनुकूल कर लेगा। यह ठीक भी है। ऐसा न किया जाय, तो भद्दरंग मालूम पड़े। यही बात ब्रज-भाषा में है, कोई अजब-अनोखी बात नहीं है।

जो लोग भाषा-विज्ञान से परिचित नहीं हैं, वे अंट-संट प्रयोग करते रहते हैं। ब्रजभाषा लिखनेवालों में भी ऐसे लोगों की कमी नही है। संस्कृत के कठिन और अप्रचलित शब्द लाकर ब्रजभाषा में डाल देते हैं, जो बेतरह खटकते हैं! संस्कृत आदि भाषाओं के शब्दों में ब्रजभाषा की विभक्तियाँ लगा दीं और ब्रज-भाषा तयार हो गई! ये लोग ब्रजभाषा में रचना नहीं करते, ब्रजभाषा की रचना करते हैं। नाश करते हैं भाषा का स्वरूप बिगाड़ते हैं! यहीं नहीं, कोई कोई तो अनावश्यक, अप्रचलित, कर्णकटु, अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी ब्रजभाषा में करने लगे हैं। इस तरह ब्रजभाषा का स्वरूप नष्ट होता है। उस का सहज सुन्दर मधुर रूप विकृत होता है। इसलिए ऐसा कभी भी न करना चाहिए।

ब्रजभाषा का माधुर्य

ब्रजभाषा का माधुर्य जगत्प्रसिद्ध है और स्वर्गीय पं० श्री पद्मसिंह जी शर्मा ने 'सञ्जीवन-भाष्य' की भूमिका में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा भी है; इसलिए यहाँ हमें पिष्टपेषण नहीं करना है।

ब्रजभाषा स्वतः मधुर है; इसलिए 'श,' 'ष' के बदले प्रायः 'स' ही बोला जाता है और 'ण' का 'न' हो जाता है। इस बात को न समझ कर बहुत से नवीन ब्रजभाषा लेखक 'श' और 'ष' का ही प्रयोग करते रहते हैं—'देश' आदि शब्दो को इसी रूप में लिखा करते हैं! यह उचित नहीं है। अलबत्ता कहीं-कहीं तत्सम रूप लिखे जाते हैं; जैसे 'विष' के 'ष' का ब्रजभाषा में कभी भी 'स' न होगा। इसी प्रकार यदि 'शर्म्मा' लिखना हो, तो इसके 'श' का भी 'स' रूप देना उचित न होगा। यह सब ब्रजभाषा-प्रकृति का प्रभाव है। भाषा को कुछ ग्राह्य होता है, कुछ नहीं। वह स्वतन्त्र है, व्याकरण आदि सब उसके अनुयायी। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है, केवल ब्रजभाषा ही में यह बात नहीं है। जिस भाषा में कुछ लिखना हो, उसकी प्रकृति से पूर्ण परिचित होना आवश्यक है। अयन्था, भाषा के साथ वह अपनी कृति भी भ्रष्ट कर लेगा, जो अन्धाधुन्ध या अटकलपच्चू काम करेगा।

इसी प्रकार ब्रजभाषा में 'य' का प्रायः 'ज' हो जाता है, जैसे 'योग' का 'जोग' और 'यथा' का 'जथा'। 'संयोग' का

'संजोग' होगा; पर 'वियोग' का 'विजोग' न होगा।

इसी प्रकार अन्यान्य बातें है, जो भाषा का अध्ययन करने से आती हैं। सर्वत्र एक ही नियम लागू नहीं होता और न अनियमित कार्यवाही उचित होती है। जो ब्रजभाषा से पूर्ण परिचित नहीं हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन नहीं किया है, उन्हें चाहिए कि अपनी रचना के लिए इसका सहारा न लेकर 'खड़ी बोली' के बल खड़े हों।

ब्रजभाषा-काव्य और संगीत

काव्य और संगीत, दोनो ही अत्यन्त मधुर कलाएँ हैं। अन्तर केवल यह है कि काव्य जीवन के प्रत्येक पहलू में उपयोगी है और संगीत मधुर मात्र है। इन दोनो कलाओं का परस्पर सहयोग एक दूसरे का उत्कर्ष-साधक है। काव्य से संगीत का और संगीत से काव्य का उत्कर्ष होता है। भारतीय संगीत ने मधुरतम ब्रजभाषा-काव्य का ही आश्रय लिया है। यह मणिकाञ्चन-योग है। इससे भारतीय सङ्गीत में जहाँ एक अद्वितीय विशेषता आ गयी है, वहाँ ब्रजभाषा का भी खूब प्रचार हुआ है और उसमें मृदुता भी बढ़ गयी है। आप बड़े-बड़े संगीताचार्यों के मुख से ब्रजभाषा के ही 'पद' सुनेंगे, जब वे कोई 'पक्की चीज' गायेंगे; फिर चाहे वे हिन्दू हों, या मुसलमान; पञ्जाबी हों, या गुजराती; पारसी हों, या कोई और। मतलब यह कि संगीत का ब्रजभाषा के साथ अच्छेद्य सम्बन्ध हो गया है। ब्रजभाषा से संगीत में चार चाँद लग जाते हैं,

उसका स्वरूप निखर पड़ता है। यदि व्रजभाषा के बदले किसी दूसरी 'बोली' या भाषा के पद संगीत में आवें, तो मजा नहीं रहता! कानों को वह रस नहीं मिलता!

इससे व्रजभाषा की माधुरी प्रत्यक्ष सिद्ध है। मधुरतम संगीतकला को भी अपने में और अधिक माधुर्य बढ़ाने के लिए जिस भाषा की शरण लेनी पड़ी, वह व्रजभाषा है।

परन्तु यह सब हम क्यों लिख रहे हैं? जो रसज्ञ नहीं हैं, जिसके कान शब्द-माधुरी पहचानने में अशक्त हैं, या जो दुराग्रह से भरे हुए हैं, उनके सामने कुछ भी कहना व्यर्थ है! वे कब मानेंगे? पेचक-जगत् को अंशुमान् की प्रभात-रश्मियों के अतुल आनन्द का अनुभव कोई कैसे करा सकता है?

अर्थध्वनन-शक्ति

व्रजभाषा में, माधुर्य के अतिरिक्त, एक दूसरा गुण और है, जिससे कवि-जन इधर आकर्षित होते हैं। थोड़े में बहुत कह देने की शक्ति जैसी व्रजभाषा में है, वैसी देववाणी संस्कृत को छोड़, और किसी भी भाषा में नहीं है। हिन्दी की अन्यान्य बोलियों में भी यह बात नहीं। 'रामहिं नमत' और 'राम को प्रणाम करता है' इन दोनों वाक्यो के स्वरूप पर दृष्टि डालिये, अन्तर स्पष्ट हो जायगा। इसीलिये तो कविजनों ने कहा है कि कविता के लिये—'भाषा व्रजभाषा रुचिर।'

बात यह है कि थोड़े में बहुत कह देना ही तो कविता का मुख्य गुण है। यह गुण कवि में होता है। वह बहुत अर्थ थोड़े

शब्दों में व्यक्त करने की अद्‌भुत शक्ति रखता है। परन्तु किसी किसी भाषा में स्वतः यह शक्ति होती है। यदि कोई निपुण कवि ऐसी भाषा में कविता करता है, तो रंग आ जाता है, सोने में सुगंध, 'रत्नं समागच्छति काञ्चनेन'। यदि कोई चतुर काष्ठ-शिल्पी अच्छी उपादान-सामग्री न पायेगा, तो अपना जौहर खुल कर न दिखला सकेगा। यदि कुम्हार अच्छा है; पर मिट्टी खराब, तो वह बेचारा क्या करेगा? यदि मिट्टी भी अच्छी हो और कुम्हार भी होशियार, तब चीज अच्छी बनेगी। इसी प्रकार कवि को उपयुक्त भाषा चाहिए।

यह ठीक है कि चतुर कारीगर अपनी भोंड़ी सामग्री को भी बहुत कुछ ठीक बना लेता है। स्वर्णकार खराब सोने-चाँदी को भी साफ करके उसके सुन्दर आभूषण बना देता है, उनमें चमत्कार उत्पन्न कर देता है। परन्तु फिर भी, वह खराब ही सोना-चाँदी है। यदि उसी स्वर्णकार को असली कुन्दन या ईंट की चाँदी दे दी जाय, तो फिर देखिए, आभूषणों में क्या रंग आता है! तब वह कारीगर आभूषण गढ़ने में अपनी कारीगरी दिखायेगा।

कवि के लिए भाषा ही सब कुछ है, यही उसके कला की उपादान सामग्री है। कवि भोंड़ी भाषा को अपनी कारीगरी से सुन्दर बना देता है। परन्तु, यदि उसे पहले ही से मँजी हुई भाषा मिल जाय, तब तो कहना ही क्या! ब्रजभाषा ऐसी ही है। इसीलिये सूर, तुलसी, विहारी और केशव आदि ने इसे अपनाया।

खड़ी बोली में मार्दव

जब पहले-पहल 'मेरठी बोली' (आज की राष्ट्र-भाषा) में कविता सुनी गई और 'परयो'* की जगह 'पड़ा' सुनाई पड़ा, तो ब्रजभाषा-कविता-प्रेमियो के सिर पर डंडा-सा पड़ा! इस कर्णकटु, कठोर प्रयोग के कारण उन्होंने इस बोली का नाम 'खड़ी बोली' रखा। जो दाल अच्छी तरह पकती नहीं, कच्ची रह जाती है, तब कहते हैं 'दाल खड़ी रह गई है।' इसी सादृश्य से 'मेरठी बोली' को 'खड़ी बोली' नाम दिया गया। लोगों ने लिखा है कि 'खरी बोली' से खड़ी बोली' हुआ। यह गलत है। 'ड' या 'ड़' का 'र' हुआ करता है, 'र' या 'ड' का 'ड़' नहीं। फिर खड़ी बोली में ऐसा परिवर्तन होता भी नहीं। खड़ी बोली में प्रथमा विभक्ति का एक वचन 'आ' है और ब्रजभाषा में 'ओ'। इस 'ा' और 'ो' का भेद एक के खड़ी रहने और दूसरी का लचीली या मधुर होने मे बहुत कुछ कारण है।

जब खड़ी बोली में कविता होने लगी, तो यह भी मँजने लगी, इसमें भी परिपक्वता और मृदुता आने लगी। अब खड़ी बोली में भी मधुर कविताएँ बनने लगी हैं। खड़ी बोली के इस रूप-सौष्ठव से सम्पादन में ब्रजभाषा का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। फिर भी खड़ी बोली के बड़े-बड़े महा-

---

*धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि ब्रजभाषा में 'पड़ो' और बुँदेलखडी में 'परो' होता है। परन्तु डाक्टर साहब का कहना गलत है। ब्रजभाषा में 'पड़ो' नहीं, 'पर्यो' होता है।

कवि अभी तक ब्रजभाषा-माधुरी भूले नहीं हैं और बरबस जब-तब इधर खिंच आते हैं। कवि-सम्राट् श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' खड़ी में सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' लिखने के बाद, फिर ब्रजभाषा की ओर झुके और हिन्दी-जगत् को 'रस-कलस' भेंट किया। यह ब्रजभाषा की माधुरी का प्रभाव है। खड़ी बोली भी मधुर होती जा रही है। इसके लिए कविजन धन्यवाद के पात्र हैं।

शब्द-विकास

कुछ लोग (कविवर पन्त आदि) शिकायत किया करते हैं कि ब्रजभाषा तुतलाती है! कहते हैं—इसे अभी तक 'प्रिय' बोलना नहीं आया, 'पिय' ही बोलती है। वे खड़ी बोली पर मुग्ध हैं; क्योंकि यह शुद्ध-शुद्ध 'प्रिय' बोलती है।

ये लोग न तो भाषा का विकास समझते हैं, न माधुर्य। यदि ब्रजभाषा तुतलाती है, तो खड़ी बोली भी 'गृह' को 'घर' 'त्वम्' को 'तुम', 'अहम्' को 'हम', 'वंश' को बांस आदि कहती है। अन्तर यह है कि ब्रजभाषा के तुतलाने में जो मिठास है, वह खड़ी बोली में नहीं है।

और 'प्रिय' को 'पिय' कहने का इलजाम ब्रजभाषा पर ही क्यों लगाया जाता है? अवधी के मार्तण्ड गोस्वामी तुलसीदास जी क्यों बख्श दिये जाते हैं? उनकी भारती भी 'पिय हिय की सिय जाननिहारी' आदि तुतलाती है! खड़ी बोली की कविताओं में भी 'प्राण' अब 'प्रान' बनकर आता है। क्यों?

अधिक दूर न जाइए। एक सुप्रसिद्ध छायावादी कवि अपनी खड़ी बोली की एक कविता यों शुरू करते हैं:—'सखी री, रही अपूरन आस।' यह 'अपूरन' और 'आस' क्या है? जान पड़ता है, पृथ्वी गोल है। द्राविड़ी ही प्राणायाम सही!

तुतलाना तो अलग, खड़ी बोली को लिंग-ज्ञान भी तो नहीं। उसके वकील 'चन्द्रमा' को स्त्रीलिङ्ग लिखते हैं! पूछो, तो कहते हैं कि स्त्रीलिंग प्रयोग में मिठास अधिक है! उन्हें मालूम होता होगा मिठास! और 'प्रिय' की अपेक्षा 'पिय' में कठोरता है! क्यों न?

वस्तुतः ये सब अनधिकार-चेष्टाएँ हैं। जिसके मन में जो आता है, लिख देता है! जानते हैं, हिन्दी का कोई धनी-धोरी तो है ही नहीं! बात भी ऐसी ही है। अभी हिन्दी-साहित्य का विकास हो रहा है। भर्ती के दिन है। बाद में काल देव अपने-आप 'छँटनी' कर देंगे। तब मालूम होगा, उस पीढ़ी के लोगों को, कि भाषा कहां तुतलाती है और कहां रस ढरकाती है।

जिन लोगों ने 'प्रिय' को 'पिय' बोलने के कारण वैसा लिखा है, वे देखें कि अब खड़ी बोली भी, 'पिय' बोलने लगी है। १६३५ के जुलाई के 'चाँद' में 'निवेदिता' शीर्षक एक कविता छपी है, खड़ी बोली की। उसका प्रारम्भ यों है—'पिय, मैं बन शिशु-सी अभय-बाहु में।' यह क्या हो रहा है? प्रौढ़ा-का तुतलाना!

वस्तुतः ब्रजभाषा तुतलाती नहीं है, सब कुछ बोलना उसे

आता है। 'प्रिय है मेरो देस' आदि में प्रिय का 'पिय' कभी भी न होगा। जहां जैसा उचित है, वहां वैसा ब्रजभाषा बोलती है, तुतलाती नहीं है। 'प्रिया' कभी भी 'पिया' न बनेगी। पुरुष के मुँह से 'प्रिया' और स्त्री के मुँह से 'पिय' या 'पिया' निकलना कितना स्वाभाविक है।

ब्रजभाषा का शृङ्गार

खड़ी बोली के कवि तथा दूसरे भी 'क्रान्तिकारी' लोग समय-समय पर ब्रजभाषा के शृङ्गार-साहित्य की ओर अँगुली किया करते हैं। परन्तु वे स्वयं उसमें चोटी से एँड़ी तक सदा डूबे रहते हैं! 'प्रियतम' और 'प्रेयसी' सम्बोधन दे-दे कर जो कुछ छपाया जाता है, सो सब क्या है? कहते हैं, यह तो 'अनन्त' की ओर इशारा है! खूब!! तब फिर ब्रजभाषा काव्य के नायक को 'छटपटाती हुई दिव्य आत्मा' तथा नायिका को 'अनन्त' क्यों न समझ लो? रही दूतियों की बात, सो उन्हें समझो 'गुरुदेव', जो दोनों को मिलाने में समर्थ हैं। परन्तु ब्रजभाषा के कवि कभी भी यह बहानेबाजी न करेंगे; टट्टी की ओट में शिकार खेलना वे कभी पसन्द न करेंगे। यह सब तो खड़ी बोली में ही जायज है, जो उर्दू से सीखा गया है। उर्दू-काव्य में आशिक-माशूक ही सब कुछ हैं! पूछो, तो जवाब देते हैं—'यह तो इश्क हकीकी की बातें हैं जनाब!' होंगी, हमें तो नहीं जान पड़तीं! यदि कहनेवाले वैसे होते, तब उनकी बातों को हम अवश्य वैसा समझते। परन्तु ऐसा नजर नहीं आता। तब आपकी आज्ञा से हम कैसे वैसा मान लें? अब 'प्रगतिवाद' अतृप्ति [illegible]

साकी-सागर

अब खड़ी बोली में साकी सागर की भी खूब नकल हो रही है। कुछ दिन पहले 'वीणा की झङ्कार' आदि कुछ शब्द चले थे। सौ में से निन्यानवे खड़ी बोली की कविताएँ 'वीणा की झङ्कार' या 'हृत्तन्त्री के तार' से भरी रहती थीं। सबमें एक ही सुर! जब इसकी खिल्ली उड़ी, तब गति मन्द पड़ी और अब प्रवाह बदल गया। फिर 'साकी, 'प्याला' और 'हाला' की भरमार रही! यह भी उर्दू से आया था। इसे भी 'अनन्त' की ओर जाता बतलाते थे! अब 'प्रगतिवाद' चालू है।

वस्तुतः इस प्रकार की कविताओं से यदि नव-युवकों में दुराचार बढ़ जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब वे प्रतिदिन सुरा-सुराही का सुर सुनेंगे, तो कब तक उधर आकर्षित न होंगे? 'अनन्त' को पहचाननेवाले कितने नव-युवक वीतराग हैं? एक तो वैसे ही संयम के बन्धन ढीले हैं, फिर उन्हें जब उसी ओर को उकसाया जायगा, तब क्या होगा?

हम इस बात का प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं कि 'प्रियतम' और 'प्रेयसि' सम्बोधन देकर जो कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं मे छपायी जाती हैं, उनमे कई बार आपसी सवाल-जवाब रहते हैं। कालेजों के नव-युवक और नव-युवतियां इस मार्ग मे अधिक पड़ती हैं। कुछ दिन पहले प्रयाग के एक स्त्री-सम्बन्धी मासिक पत्र मे इस ढँग की कविताएँ छपती थीं।

खैर, हमे इन बातों से सरोकार नहीं, कोई कुछ करे! हम

तो केवल इतना कहते हैं कि मात्रा से यदि शृङ्गार हो, तो उसे कोई बुरा न कहेगा। दिल को सरस रखने के लिये उसकी आवश्यकता है।

शृंगार के अतिरिक्त ब्रजभाषा-साहित्य में वीर-रस, नीति, आचार आदि पर भी कुछ सामयिक कहा गया है, थोड़ा-थोड़ा।

बनावटी ब्रजभाषा

बहुत-से ब्रजभाषा के कवियों ने शब्द-प्रयोग गलत कर दिये हैं। वे शायद मेरे प्रयोग गलत समझें, जो उनसे न मिलें। इस लिए इस विषय में भी थोड़ी-सी सफाई दरकार है। हमने अपनी पुस्तक* में 'उड़ि जाइगो' उड़ि मिलिहै' आदि प्रयोग 'ड़' से किये हैं। एक नामी कवि+ने 'उड़ि' की जगह 'उरि' और 'उड़्यो' के स्थान पर 'उर्यो' लिखा है। पाठकों के मन में सन्देह हो सकता हैं कि कौन-सा रूप ठीक है, 'ड़' से, या र से? सुनिए।

ब्रजभाषा में 'ड' या 'ड़' प्रायः 'र' के रूप में आ आता है; परन्तु सर्वत्र नहीं। 'उड़्यो' की जगह 'उर्‌यो' कभी भी हो नहीं सकता और न 'उड़ि' के बदले 'उरि' दिया जा सकता है। इसी प्रकार 'बड़ो' के बदले 'बरो' नहीं कर सकते। हाँ, 'पड़्यो' न होगा, 'पर्‌यो' होगा। कहाँ 'ड़' या 'ड' रहता है और कहाँ 'र' हो जाता है, यह सब भाषा का अभ्यास करने से आता है। भाषा का कोई नियामक नही है, व्याकरण भी उसका पिछलगुआ ही है। प्रत्येक भाषा अपना स्वरूप रखती

---

* तरङ्गिणी में। + श्री दुलारेलाल भार्गव

है। उसमें परिवर्तन कोई कर नहीं सकता। 'खंड' को 'खंर' कोई कैसे ब्रजभाषा में लिख देगा ? सूरदास जी ने अपने सुप्रसिद्ध पद्य 'खंजन नैन रूप रस माते' में 'अबहिं उड़ि जाते' लिखा है, 'अबहि उरि जाते' नहीं।

संयुक्त अक्षर ब्रजभाषा मे बहुत कम ग्राह्य हैं; क्योंकि इन की भरमार से कर्णकटुता बढ़ जाती है। फिर, एक ही दोहे में यदि चार बार वैसे शब्द आ जायँ, तो कैसा हो ? ये सब भाषा-दोष हैं, जिससे सावधान रहना चाहिए।

ब्रज में बोली जानेवाली 'बोली' अपने उसी रूप में साहित्य की ब्रजभाषा नहीं बन गई है। उसमें बहुत कुछ खरास-तराश और परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ है। ब्रजभाषा के आदर्श काव्य 'सूर-सागर' आदि में कालक्रम से बहुत कुछ पाठ-परिवर्तन हो गया है। अभी मालूम हुआ है कि 'सूर-सागर' में सम्बन्ध-सूचक विभक्ति सर्वत्र 'कै' की जा रही है! इस 'कै' की बदबू ब्रजभाषा की पुष्करिणी को अवश्य दूषित कर देगी! इसी प्रकार सर्वत्र 'कौ' 'को' ही शुद्ध मानकर कर्णकटुता बढ़ाई जा रही है। यों पुराने ग्रन्थ अपने अनुसार किये जा रहे हैं। औपम्य-बोधक 'सो' भी 'सौ' करके लिखने लगे हैं! अन्धाधुन्ध!

उच्चारण के सम्बन्ध में

ब्रजभाषा में 'जैयो', 'खैयो' आदि में 'जै' और 'खै' आदि का उच्चारण 'जइ', 'खइ' की तरह होता है। अर्थात् 'जैयो' का उच्चारण 'जइयो' जैसा, तथा 'खैयो' का 'खइयो' जैसा

होता है। कहाँ ऐसा उच्चारण है, यह उसी को मालूम होगा, जो ब्रजभाषा से परिचित है। पहले जी में आया था कि जहाँ जैसा उच्चारण है, उसे वैसा ही लिखा भी जाय, जिसमें पढ़ने में गड़बड़ न पड़े। इस प्रकार लिखना शुरू भी किया था; परन्तु अच्छा न जँचा। पुराने लोग जैसा लिखते आये है, जान पड़ा, मैं उनसे भिन्न मार्ग पकड़ रहा हूँ। इसलिये, उस दिशा को छोड़ दिया और फिर पुराने ढँग से 'जैयो' आदि ही लिखने लगा। इसी प्रकार इस पुस्तक में सब छपा है।

ब्रजभाषा ही के लिए उच्चारण के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। 'खड़ी बोली' में भी ऐसा उच्चारण कहीं-कहीं होता है! 'भैया' में 'भइया' जैसा उच्चरित होता है। 'सौभाग्य' को 'सउभाग्य' की तरह बोलते हैं। 'दैवयोग' का उच्चारण भी इसी प्रकार है।

उपसंहार

इस तरह हमने संक्षेप में हिन्दी की उत्पत्ति और उसके स्वरूप पर विचार किया। हिन्दी के व्याकरणों का आलोचनात्मक ढँग से निरीक्षण किया, जिससे आगे कोई गड़बड़ सामने न आये। ब्रजभाषा भी तो हिन्दी ही है न? 'खड़ी बोली' के व्याकरण में और ब्रजभाषा के व्याकरण में कितना अन्तर है, सो सब सामने आया जाता है। ब्रजभाषा के स्वरूप और उसकी स्थिति पर भी विचार किया। सब संक्षेप में किया, फिर भी इतने पृष्ठ हो गये। अब प्रकृत विषय का निरूपण किया जायगा।

ब्रजभाषा का व्याकरण

प्रथम अध्याय

—:**:—

कारक और विभक्तियां

ब्रजभाषा में औ ने, कौं, हि, सों, ते (तें), को, (के, की) में (मैं) महँ, (माहिं) पै. पर आदि विभक्तियां संज्ञाओं में लग कर विभिन्न कारकों के रूप प्रकट करती हैं और अनेक सम्बन्ध व्यक्त करती हैं। विभक्तियों के बिना भी (इन के लोप में) ब्रजभाषा के कारक बहुत अधिक देखे जाते हैं. जिन का निर्देश अभी किया जायगा।

इन विभक्तियां के लगने से संज्ञाओं में या विशेषणों में जो रूप-परिवर्तन होता है, सो बाद में बतायेंगे। पहले यह देख लें कि उपर्युक्त विभिन्न विभक्तियों से कैसे विभिन्न कारक आदि के रूप बनते हैं।

कर्ता कारक—'ने' यह विभक्ति केवल कर्ता कारक में लगती है, जब भूतकाल की क्रिया सकर्मक हो; जैसे—'राम ने दियो है 'फल' मेरेई करम को'। यहां 'दियो है' क्रिया सकर्मक है, कर्म 'फल' है। और वह 'कर्मवाच्य है! कर्म के अधीन उस (क्रिया) के पुरुषवचन आदि हैं। यदि कर्म में बहुवचन कर दें, तो क्रिया में भी बहुवचन हो जायगा, भले ही कर्ता में एक वचन रहे; जैसे—'राम ने दिये हैं फल चारि निज जन कौं' फल (कर्म) बहुवचन में होने पर क्रिया भी बहुवचन में आगयी—'दिये'। यदि कर्म स्त्रीलिंग हो, तो क्रिया भी स्त्री-लिंग हो जायगी—'राम ने ऐसी पहेली दई है'। कर्म (पहेली) स्त्री-लिङ्ग; अतएव क्रिया भी स्त्री-लिङ्ग-, 'दई'। इस प्रकार सकर्मक क्रिया यदि कर्मवाच्य हो, तो कर्ता कारक में 'ने' विभक्ति लगती है। सकर्मक क्रियाएँ प्रायः भूतकाल में कर्मवाच्य या भाववाच्य होती हैं।

बहुवचन कर्ता में प्रायः 'न' या 'नि' अन्त में लग जाता है, और तब 'ने' का प्रयोग वैकल्पिक होता है—कभी होता है, कभी नहीं। 'मुनिन ने व्रत एक लियो तबै' अथवा 'मुनिन नेम कियो अति चाव सों'। मालूम होता है, 'न' के बाद 'ने' का उच्चारण कुछ भला नहीं लगता, इस लिए उसका प्रयोग भाषा-प्रवाह में मन्द हो गया।

यदि क्रिया कर्मवाच्य न हो,कर्तृवाच्य हो, तब कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग नहीं होता है, कर्ता निर्विभक्तिक आता है; जैसे

'नाम गयो अरु प्रीति गई है।' कर्तृवाच्य क्रिया यहां अकर्मक है। सकर्मक क्रिया हो, तो भी 'ने' कर्तृवाच्य में न लगेगा—'राम ही करत जग-पालन-विनास है' या 'राम हैं करत प्रीति सदा निज जन सों'। यहाँ क्रिया कर्ता के अधीन है, इसलिए कर्तृ-वाच्य है। ऐसी जगह कर्ता में 'ने' विभक्ति नहीं लगती। परन्तु 'प्रीति करी राम ने निषाद से अधम सों' यहां 'ने' है; क्योंकि 'करी' क्रिया कर्म (प्रीति) के अनुसार है, कर्मवाच्य।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि कर्मवाच्य क्रिया भी कभी-कभी 'ने' विभक्ति के बिना आती है। सो, बहुवचन में ही नहीं, एक वचन में भी 'राम कियो इक सेतु तहाँ पै'।

इस प्रकार कर्म-वाच्य क्रिया के साथ 'ने' कर्ता कारक में विकल्प से आता है; पर कर्तृ-वाच्य क्रिया में बिलकुल आता ही नहीं।

हाँ, भाववाच्य क्रिया के प्रयोग में कर्ता के साथ 'ने' अलबत्ता आता है—'राम ने सीय कौं देखि लियो है' या 'सीय ने राम कौं देखि लियो है' अथवा 'सब राजनि ने तब सीय कौं देख्यो, या 'सीय ने राजनि कौं तब देख्यो' ये सब क्रियाएँ भाव-वाच्य सकर्मक हैं; अतएव कर्ता के साथ 'ने' लगा है। भाव-वाच्य क्रिया सदा पुल्लिंग एक वचन रहती है; कर्त्ता और कर्म चाहे जिस पुरुष-वचन-लिङ्ग में प्रयुक्त हों। यह बात वाच्य-प्रकरण में अधिक स्पष्ट की जायगी। भूमिका में कुछ लिखा भी जा चुका है। संस्कृत में सकर्मक क्रियाएँ भाव-वाच्य नहीं होती हैं; पर हिन्दी में खूब होती हैं।

'ने' के अतिरिक्त अन्य विभक्तियाँ भी कर्ता कारक में लगती हैं; जब क्रिया कर्मवाच्य या भाव-वाच्य हो। जैसे—'मो पै न जाति सही बिपदा है'। यहाँ कर्ता कारक के साथ 'पै' विभक्ति है। कर्ता उत्तम पुरुष एक वचन में है, पुल्लिग। परन्तु 'सही' क्रिया स्त्री-लिङ्ग है; क्योंकि कर्मवाच्य है। कर्म 'बिपदा' स्त्री-लिङ्ग है; इस लिए क्रिया भी स्त्री-लिङ्ग। कर्ता में 'ने' की जगह 'पै' लगा है। ऐसी जगह, शक्ति-निषेध में, ब्रजभाषा के कर्ता कारक मे 'ने' विभक्ति लगती ही नहीं; 'पै' अथवा 'सों' का ही प्रयोग होता है। 'मोसों न कहत बनै बैन ऐसे पिय सों'। शक्ति-निषेध है, इस लिए कर्म-वाच्य क्रिया 'कहत बनै' का कर्ता 'सों' विभक्ति के साथ आया है। अकर्मक क्रियाओं के शक्ति-निषेध में भाव-वाच्य का प्रयोग प्रायः होता है और वहाँ भी कर्ता के साथ 'पै' या 'सों' विभक्ति का आना आवश्यक है—'मोपै न जात उठ्यो सजनी' 'राम सों न बैठ्यो जात' बैठना-पढ़ना क्रियाएँ अकर्मक हैं और भाववाच्य हैं। कर्ता के वचन आदि बदल देने पर भी क्रिया सदा एक वचन, अन्य पुरुष; पुल्लिङ्ग रहेगी—'सखी सों न जात बैठो' 'सखिन सों न देख्यो जात' इत्यादि।

खड़ी बोली मे ऐसे स्थलों मे कर्ता कारक 'से' विभक्ति के साथ आता है—'मुझ से उठा नही जाता' 'स्त्री से दुःख सहा नहीं जाता' इत्यादि।

'कौ' या 'कौ' विभक्ति भी कर्ता कारक में लगती है—'राम कौ एते हैं नाते निभाने'। 'निभाने' क्रिया का कर्ता राम है, जो

'कौं' विभक्ति के साथ है। इसी तरह 'को' विभक्ति भी लगती है—'राम को एते हैं नाते निभाने' ऐसा भी होता है। वस्तुतः को, कौ और कौं एक ही विभक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं, जो प्रयोग-वैविध्य से उद्भूत हो गये हैं। इसी तरह 'में' विभक्ति के 'मैं' 'महँ' 'माँहिं' 'महियाँ' आदि रूप देखे जाते हैं।

कहने का मतलब यह कि को, कौ, कौं, के साथ भी कर्ता का प्रयोग होता है। ऐसे प्रयोग भी कर्म-वाच्य क्रिया की उपस्थिति में ही होते हैं, कर्तृवाच्य में नहीं। 'मोकौं हैं एते काम करने जहान में'। कर्ता 'मोकौं' एक वचन और क्रिया 'करने हैं' बहु-वचन; क्योंकि कर्म 'काम' बहुवचन है। सूरदास ने भी 'करनि दै लोगनि कौं उपहास' यों भाववाच्य क्रिया में कर्ता के साथ 'कौं' लगाया है। उपहास करने की क्रिया 'लोगनि' कर्ता के साथ है, जो 'कौं' से युक्त है। कर्ता में बहुवचन होने पर भी क्रिया एक वचन है, पुल्लिङ्ग। परन्तु एकवचन, अन्य पुरुष, पुल्लिङ्ग कर्म (उपहास) होने पर भी वह उसके अधीन नहीं है। कर्म के वचन आदि बदल कर देख लीजिए, क्रिया ज्यों की त्यों रहेगी—'करन दै मन कौं उन सों प्रीति'। कर्म स्त्रीलिङ्ग होने पर भी क्रिया वही 'करन दै' है। 'करन दै भक्तन कौं वे काम'। कर्ता 'भक्तन' बहुवचन है, क्रिया वही 'करन दै'। कर्म 'काम' बहुवचन है, पर क्रिया में इस से कोई परिवर्तन नहीं। इस से निष्कर्ष निकला कि कर्तृ-वाच्य के अतिरिक्त. शेष दोनों जगह कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्ता के साथ 'कौं' विभक्ति भी आती है।

'हिं' विभक्ति का प्रयोग भी सूरदास ने कर्ता के साथ किया है—'विधातहिं चूक परी मैं जानी'। विधाता से चूक पड़ी, विधाता ने गलती की। 'हिं' के साथ इस प्रकार कर्ता मिला और यह भी कर्म-वाच्य ही—'चूक परी'। 'चूक' स्त्रीलिङ्ग कर्म के अनुसार क्रिया है, न कि पुल्लिङ्ग कर्ता 'विधाता' के अनुसार।

इन सब उदाहरणों से मालूम हुआ कि 'ने' 'सों' 'मैं' 'कौं' आदि विभक्तियाँ कर्ता कारक के साथ आती हैं, पर कर्मवाच्य या भाववाच्य क्रिया होने पर ही। हो सकता है, इसका अपवाद विस्तृत ब्रजभाषा-साहित्य में कहीं मिल जाय; पर मुख्य नियम यही है।

जब क्रिया कर्तृवाच्य होती है, तब उसके साथ कोई विभक्ति नहीं लगती। वर्तमान-काल तथा भविष्यत् काल में ही प्रायः कर्तृवाच्य क्रियाएँ होती हैं। अकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में भी कर्तृवाच्य होती हैं। 'बेंचत फिरति मधुर दधि गोपी'। कर्ता 'गोपी' स्त्री लिंग है। उसी के अनुसार वर्तमान काल की क्रिया स्त्री लिग है।—'फिरति'। दधि (कर्म) पुल्लिंग है, जिसकी ओर वह (क्रिया) देखती नहीं है। इस प्रकार कर्तृवाच्य क्रिया का कर्ता किसी भी विभक्ति के साथ नहीं है। 'बेंचेत फिरत दवाई मोहन'। यहाँ कर्ता 'मोहन' है। विभक्ति कोई नहीं। क्रिया कर्ता (मोहन) के अनुसार पुल्लिंग है। अकर्मक क्रियाओं में भी—'मोहन जागि पर्यो अधरातक'। यहाँ 'जागि 'परयो' संयुक्त क्रिया कर्ता (मोहन) के अनुसार पुल्लिंग एक वचन, अन्य पुरुष है। विभक्ति

कोई नहीं है। भूतकाल में भी अकर्मक क्रिया के कर्तृवाच्य प्रयोग होते हैं, यह ऊपर कहा जा चुका है। वर्तमान काल में—'कहत मोहन जननि सों' अथवा 'कहति राधा निज जनक सों'। 'कहत' क्रिया 'मोहन' के अनुसार और 'कहति' राधा के अनुसार। ऐसी क्रियाओं की दृष्टि कर्म की ओर रहती ही नहीं है।

सो, जब कर्तृवाच्य क्रिया होती है, तब कर्ता में कोई विभक्ति नहीं लगती। परन्तु कर्म-वाच्य और भाव-वाच्य में विभक्ति लगती है। कहीं नहीं भी लगती, कर्मवाच्य में। उदाहरण दिये जा चुके हैं; जैसे—'ऋषिन करी परतीति वाकी'। 'करी' क्रिया कर्म-वाच्य है; फिर भी कर्ता 'ऋषिन' के साथ कोई विभक्ति नहीं है। 'ऋषिन' के 'न' से ही कर्तृत्व झलक मारता है। जहाँ ऐसा न हो, वहाँ कोई विभक्ति जरूरी होती है। अन्यथा, बड़ा भद्दा लगता है; जैसे—'मरम वचन सीता तब बोला'। 'बोला' क्रिया कर्म-वाच्य है, 'वचन' (कर्म) के अनुसार पुल्लिङ्ग। परन्तु कर्ता के आगे कोई विभक्ति न होने से और वैसा कुछ आभास न मिलने से आपाततः भ्रम होता है—'सीता बोला'! विचार करने पर प्रतीत होता है—'वचन बोला'। क्रिया कर्म-वाच्य है, वचन के अनुसार पुल्लिङ्ग। 'अवधी' में व्याकरण के नियम प्रायः खड़ी बोली और ब्रजभाषा से मिलते-जुलते ही हैं। यदि कर्ता बहु वचन हो, तब कोई विभक्ति न देने पर भी बुरा नहीं लगता—'मरम वचन रानिन तब बोला' या मरम वचन देवन तब बोला' में कोई अटपटापन नहीं लगता।

यह 'अवधी' की बात है। ब्रजभाषा में भी विभक्ति बिना कर्म आता है, यह कहा जा चुका है, पर वहीं, जहाँ बुरा न लगे। सूरदास के इस पद्यांश में देखिए—'तू जसुमति कब जायो'। न तो कर्ता (जसुमति) के साथ कोई विभक्ति है और न कर्म (तू) के साथ। क्रिया कर्मवाच्य है। कुछ भी बुरा नहीं लगता। भाषा का प्रवाह है। अवधी में 'ने' विभक्ति है ही नहीं।

यों आपने देखा कि कब कर्ता में विभक्ति लगती है, कब नहीं। यह भी देखा कि प्रायः सभी विभक्तियाँ कर्ता कारक में लगती हैं। कहाँ किस का प्रयोग किया जाय, यह भाषा के प्रवाह पर अवलम्बित है, जो साहित्य-विलोडन से जाना जा सकता है।

२—कर्म कारक

ब्रजभाषा में कर्मकारक में 'कौं' 'को' 'हि' 'सों' आदि विभक्तियाँ लगती हैं। उदाहरण में सूरदास के ही प्रयोग लीजिए—

"कत रघुनाथ मूरि के कारन मोकौं लेन पठावे।"

"स्वामि-धर्म सब जगहिं सिखाये।"

"अबकैं नाथ मोहिं उबारि।"

"आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहावौं।"

"सूरदास स्वामी सों कहियो, अब विरमियो, नहीं।"

"कायर काल कछू नहिं व्यापै, जो इहि रीतिहिं जानै।"

'जगहि' गौण कर्म है, मुख्य कर्म 'स्वामि-धर्म' है। 'सिखाना' क्रिया द्विकर्मक है। इसका मतलब यह हुआ कि जब द्विकर्मक क्रिया होगी, तो विभक्ति गौण कर्म में लगेगी—'राम ने मोकौं

वेद पढ़ाये'। 'वेद' मुख्य कर्म है; मोकौं' गौण, विभक्ति के साथ। इसी तरह—'राम ने मोसों भेद बतायो' यहाँ भी मुख्य कर्म 'भेद' के साथ कोई विभक्ति नहीं है। 'हरिहिं न सख गहावौं' में भी 'हरि' गौण कर्म है।

बिना विभक्ति के भी ब्रजभाषा में निर्बाध कर्म के प्रयोग होते हैं—'राम वेद हू पढ़तु है' यहाँ बिना विभक्ति का कर्म अच्छा लगता है। 'राम वेद हू कौं पढ़तु है' यों 'कौं' के साथ भला नहीं लगता, 'राम ने माखन-रोटी खाई, यहाँ कर्म के आगे विभक्ति का न लगाना ही ठीक है। 'राम ने रोटी कौं खायो' या 'राम ने रोटिहिं खायो' ऐसा भाववाच्य प्रयोग, 'कौं' या 'हिं' विभक्ति लगा कर करें, तो बुरा लगेगा। ऐसे सौम्य स्थल में बिना विभक्ति लगये वही कर्म-वाच्य प्रयोग ठीक—'राम ने रोटी खायी।'

हाँ, खाने क्रिया का कर्म 'कौं' और 'हि' विभक्ति के साथ भी आयेगा, भाववाच्य में; परन्तु जब कर्ता मानवेतर हो; जैसे—'स्वान ने मृगछौने कौं खायो'। 'सिंह वा सुरभिहिं खाइ गयो' इस प्रकार के कर्तृवाच्य प्रयोग भी विभक्ति के साथ होते हैं। 'सिंह खाइ गयो' और 'सिंहिनी खाइ गई' 'गयो' सहायक क्रिया के अनुसार कर्तृवाच्य। सारांश यह कि कहीं विभक्ति लगा कर कर्म का प्रयोग ठीक होता है, कहीं बिना लगाये।

यह भी साहित्य-मन्थन से जाना जायगा कि कहाँ कौन सी विभक्ति कर्म में लगती है। उदाहरणार्थ—'सूरदास स्वामी सों कहियो, अब बिरमियो नहीं' या सूरदास प्रभु दीन वचन यों

हनूमान सों भाखैं' इत्यादि स्थलों में 'सों' विभक्ति ही लगेगी, अन्य कोई नहीं। यदि 'सों' हटा कर उसकी जगह 'कौं' या 'हिं' लगा दें, तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। इसी तरह 'द्विज कहियो हरि सों समुझाइ' और 'मोसों कहत मोल कौ लीयो' इत्यादि सूरदास के प्रयोग हैं। 'हरि सों' गौण कर्म है। मुख्य कर्म वह सन्देश है, जिसका आगे निर्देश है। 'मोसों' भी गौण कर्म है। मुख्य कर्म वाक्यगत 'मोल कौ लीयो' है, जो कहा जा रहा है। भाषा का प्रावह देख कर ही पदों का प्रयोग किया जाता है।

३ - करण कारक

करण कारक में प्रायः 'सों' विभक्ति आती है—

"इक करसों कर गहि गाढ़े करि, इक कर लीने साँटी'

—सूरदास

परन्तु ब्रजभाषा-काव्य में विभक्ति के बिना भी बहुत अधिक करण कारक के प्रयोग हैं; उदाहरण के लिए सूरदास के पद्यांश लीजिए—

'पग न इत-उत धरन पावत, उरझि मोह-सिवार'

मोह-रूपी सिवार से पैर उलझे हैं। 'मोह-सिवार' करण है, विभक्ति के बिना। इसी तरह—

'जाके मीत नन्दनन्दन से ढँकि लई पीत पटौले'

'पीत पटौलै' करण है। विभक्ति कोई नहीं —पीताम्बर से ढँक ली।

इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिए। कहीं

भी 'सों' देखकर ही करण कारक न समझ लेना चाहिए। करण में भी 'सों' लगता है, कर्म में भी और अन्यत्र भी। नीचे के उदाहरणों में सूरदास ने 'सों' का प्रयोग करण कारक में नहीं, सम्बन्ध-विशेष में किया है—

'मना रे, माधव सों करु प्रीति'

'देखो करनी कमल की, जल सों कीनों हेत।

'छूटे देह जाइ सरिता तजि, पग सों परस करै'।

यहाँ तीनों जगह 'सह' या 'साथ' का अर्थ 'सों' से निकलता है। करण की यहाँ कोई बात ही नहीं है।

सो, सब बिलकुल साफ है। अर्थ पर ध्यान देना चाहिए, तब कारक मालूम देगा। केवल विभक्ति देख कर कारक का पता नहीं लग सकता; क्योंकि एक-एक विभक्ति कई-कई कारकों में और विभिन्न सम्बन्धों के प्रकट करने में काम आती है।

हिन्दी के व्याकरणों में विभक्तियों को ही कारक समझ लेने की गलती बार-बार की गयी है। इसी से झमेला बढ़ा है और चीज अधिक पर्दे में चली गयी। व्याकरण-जैसा सुन्दर विषय छात्रों को नीरस जँचने लगा और उसको वे एक गोरखधन्धा समझने लगे। उन्हीं छात्रों में से अधिकांश हमारे इस व्याकरण को भी पढ़ेंगे; इसलिए यह स्पष्ट चेतावनी देनी पड़ी। इस पुस्तक के भूमिका-भाग में हमने कारकों का संक्षिप्त परिचय दिया है। उसे पढ़कर विद्यार्थी यदि आगे बढ़ेंगे, तब कोई कठिनाई न आयेगी।

४—सम्प्रदान

सम्प्रदान कारक में 'को' 'कौ' 'हि' विभक्तियाँ काम आती हैं। उदाहरण—'हम कौं कहा देन हरि राख्यो'।

सूरदास के—

मनौं मधुप मधुपानहिं आवत,
देखि डरति जिय भारी।

इस पद्य में 'मधुपानहि' में 'हि' देख कर सम्प्रदान का भ्रम हो सकता है; पर ऐसा नहीं है। यहाँ 'हि' विभक्ति सम्प्रदान कारक में नहीं, बल्कि 'तादर्थ्य' में है—मधुपान के लिए भौंरे आते हैं। 'मधु पातुम्' यह अर्थ। सम्प्रदान तो उसे कहते हैं, जिसे कुछ दिया जाय। सो बात यहाँ है नहीं।

हाँ, इस जगह 'हि' सम्प्रदान कारक में अवश्य है—'ऊधो तुमहिं इतो उपहार।' उपहार का सम्प्रदान 'तुम' 'हि' विभक्ति से संवलित है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि कर्ता में भी 'कौ' और 'हि' विभक्ति लगती है, कर्म में भी और सम्प्रदान में भी। एक वाक्य में इन तीनों कारकों में, एक साथ ही, इनमें से कोई एक ही विभक्ति नहीं आ सकती, ठीक न रहेगी—'हम कौं है राम कौं देनी मिठाई' ऐसा न होगा; क्योंकि यह भ्रम रहेगा कि इनमें, कर्ता कौन है और सम्प्रदान कौन। दूसरे, दो बार एक ही विभक्ति सुनने में भी अच्छी नहीं लगती। 'हम राम कौं दैहैं मिठाई भली' या ऐसा ही कुछ और ढंग से ठीक होगा।

कभी-कभी विना कारक के भी सम्प्रदान का प्रयोग होता है—'विप्रनि दान दियो रघु ने वहु'। परन्तु बहुवचन में ही ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं, एक वचन में नहीं। 'विप्र दीनो दान रघु ने' ऐसा न होगा। ध्यान पूर्वक देखने से पता लगता है कि वस्तुतः 'विप्रनि दान दियो' में भी सम्प्रदान निर्विभक्तिक नहीं है। पर विभक्ति ऐसी घिस-मिल गयी है कि मालूम नहीं देती। वही 'हिं' 'विप्रनि' आदि में भी है। विप्र का बहुवचन 'विप्रन' हुआ, 'हिं' के साथ 'विप्रनहिं'। परन्तु इस रूप में यह अश्रव्य है; इस लिए, 'ह' उड़ गया। केवल 'इं' रह गयी। 'विप्रनिं' हो गया, 'न' के 'अ' का लोप और 'न्' का 'इं' से संयोग। परन्तु सानुस्वार 'न' के साथ सानुस्वार 'इं' भी कुछ जँचती नहीं, मिनमिनाहट पैदा हो जाती है। इसे दूर करने के लिए 'हिं' का जो अनुस्वार 'इं' में था, उसने भी आत्म-बलिदान कर दिया और तब रह गया—'विप्रनि'। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से 'हिं' विभक्ति यहाँ है। इकारान्त आदि शब्दों से परे 'हिं' 'हँ' बन कर रहती है—मुनिन्हँ, ऋषिन्हँ आदि। 'गुरुनि' और 'गुरुन्हँ' दोनों होंगे। इकारान्त-उकारान्त शब्दों के बहुवचन सम्प्रदान इस प्रकार 'हिं' लगा कर बहुत कम आते हैं।

यह 'हिं' 'खड़ी बोली' के कर्म कारक में भी आ गयी है—मुझे-तुझे और हमें-तुम्हें इसी 'हिं' से बने हैं। 'ह' का लोप और एकत्व-बहुत्व सूचित करने के लिए अनुस्वार का लोप-अस्तित्व। 'हिं' लगी होने के कारण ही यहाँ 'को' विभक्ति नहीं लगती है।

५—अपादान

अपादान में प्राय: सर्वत्र 'ते' या 'तें' विभक्ति लगती है। सूरदास के पद्यों में देखिए—

'रथ तें उतरि चक्र धरि कर प्रभु
सुभटहि सनमुख आये।'

'मानौं चारि हंस सरवर तें बैठे आइ सदहियाँ।'

'तामें ते तिहि छिन ही काढ़्यो पल भरि रहन न पायो।'

अन्तिम उदाहरण में एक बात विशेष ध्यान देने की है कि एक विभक्ति के बाद दूसरी विभक्ति एक ही प्रकृति में लगी है—'तामें ते'। परन्तु 'ते' पर प्रधानता है, अपादानत्व मुख्य है। संस्कृत में इस तरह दो विभक्तियाँ एक प्रकृति में कभी नहीं लगतीं; पर हिन्दी में खूब चलन है, ब्रजभाषा और 'अवधी' में ही नहीं, 'खड़ी बोली' में भी। 'इनमें से एक चुन लो' यहाँ 'में' और 'से' ये दो विभक्तियाँ एक साथ हैं। 'से' अन्त में है; प्रधनता 'में' पर ही है। 'से' यहाँ अपादान में नहीं है, अधिकरण-विशेष का ही द्योतक है। मतलब यह कि 'इनमें चुनाव कर लो। चुनाव करके किसी चीज को अलग ही प्राय: निकाल लिया जाता है और जहाँ से निकाला जायगा, उसे अपादान कहेंगे ही। चुनाव करते समय यदि अलग करने की भावना प्रकट न हो, तो भी मानसिक, अलगाव बना ही रहता है। इसी लिए, ऐसे स्थल में 'में' के साथ 'से' का प्रयोग होता है।

ब्रजभाषा में अपादान में 'ते' या 'तें' का प्रयोग होता है, यह

कहा गया। जहाँ जो अच्छा लगे। परन्तु बहुत मिनमिनाहट भी अच्छी नहीं। भद्दा लगता है। इसीलिए उपर्युक्त अन्तिम उदाहरण में 'तें' नहीं, 'ते' है। 'तामें' में 'म' और फिर उस पर अनुस्वार। इसके बाद यदि 'तें' कर देते, तो वाक्य मिनमिना हो जाता। इसी लिए 'तें' न दे कर 'ते' दिया है। खड़ी बोली में भी इस बात का ध्यान रखा जाता है और इसी लिए 'मैंने पुस्तकें देखीं' होता है; पर 'देखीं थीं' नहीं। अनुस्वार बहुवचन द्योतन के लिए है, सो 'थीं' से गतार्थ है। फलतः 'देखीं' का अनुस्वार उड़ गया। कारण 'देखीं थीं' भद्दा लगता। यदि भद्दा न लगे, तो चीज बनी रहती है। सिपाही वहाँ गये। यहाँ बहुवचनत्व द्योतन के लिए 'गया' के 'आ' को 'ए' हो गया है। और वह 'सिपाही वहाँ गये थे' में भी वैसा ही विद्यमान रहता है; अनावश्यक होने से उड़ नहीं जाता, या 'आ' नहीं बन जाता। अनावश्यक चीज भी बनी रह सकती है, यदि भोंड़ी न लगे; जैसे नर-वर्ग के स्तन। सपाट होने से वैसा अच्छा न लगता। परन्तु अँगुलियों में एक बढ़ जाय, तो कटवा दी जाती है। यही बात भाषा में है।

ऊपर कहा गया है कि 'ते' या 'तें' अपादान में लगती हैं; परन्तु कहीं-कहीं 'सों' भी प्रयुक्त देखा जाता है। सूरदास ने ही कहीं-कहीं 'सों' का प्रयोग किया है—'तुम सों हौं नहिं दूरि रहत हौं' में 'तुम सों' अपादान ही है। दूर हटना, दूर होना, दूर रहना एक ही बात है। जिससे दूर हुआ जाय, वह अपादान ही हुआ।

६—अधिकरण

'में' 'मैं' महँ 'पै' आदि विभक्तियाँ ब्रजभाषा में अधिकरणत्व प्रकट करने के लिए आती हैं। इनके अतिरिक्त 'हिं' का प्रयोग भी होता है, और बिना विभक्ति के भी अधिकरण कारक ब्रजभाषा-काव्य में खूब हैं। उदाहरणों के लिए सूरदास के ही वाक्य हम लेगे—

'सोवत सपने में ज्यों सम्पति त्यों दिखाइ बौरावै' परन्तु—

'राजिवनैन मैन की मूरति सैनन माहिं बताई'

इस उदाहरण में अधिकरण मानें, या करण कारक, यह सन्देह है। मतलब यह है कि 'सैननि सों बतायो' इशारे से बता दिया कि 'ये हमारे पति हैं'। सो, 'सैन' करण हैं। अधिक स्पष्टता में जायँ, तो ज्ञापक हेतु 'सों' लिये हुए है। 'सैन' किसी का आधार नहीं हैं। सो, यहाँ अधिकरणत्व की स्थिति है नहीं। हाँ, किसी के इस पद्यांश में अवश्य अधिकरण है—

'आगि लगै ब्रज के बसिवे महँ पानी में आगि लगावैं लुगाई'

'ब्रज के वास मे आग लगे'। 'लाक्षणिक प्रयोग ऐसे होते हैं और विषयतः अधिकरण प्रसिद्ध है।

'पै' का प्रयोग तो सूरदास ने बहुत ज्यादा किया है; पर यहाँ अधिकरण नहीं है— 'जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पै आवै' जहाज 'आने' का कर्म है, अधिकरण नहीं। पक्षी जहाज की ओर आता है, 'पाने' को। 'माधव' गाँव जाता है, यहाँ 'गाँव' कर्म है, 'जाने' का। 'माधाव गांव में पढ़ता है, यहाँ गावँ अधिकरण है। हाँ, यदि ऐसा हो—

'जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पै बैठो आइ' तो अवश्य अधिकरण कारक होगा, बैठना क्रिया का, या 'पंछी' कर्ता का। इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। परन्तु इस प्रकार कर्म आदि कारकों के लिये सूरदास ने 'पै' का प्रयोग बहुत कम किया है। कभी कभी केवल 'पैं' विभक्ति ही कर्म कारक में दी जा सकती है, अन्य 'कौ' आदि से काम चलता नहीं और न विभक्ति के विना कर्मत्व प्रकट होता है—

'जाहु भले कुरुराज पै, धारि दूत-वर वेस।
जैयो भूलि न कहुँ, वहाँ केसव द्रौपदि-केस' (वीरसतसई)।

पै की जगह 'पहँ' का प्रयोग भी मिलता है। 'हिं' का प्रयोग भी किया गया है—'व्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो' व्रज यहाँ अधिकरण है। परन्तु 'हिं' का प्रयोग भी बहुत कम अधिकरण कारक में है। अधिक तो में, मैं, महँ आदि हैं। संस्कृत के 'बालके' आदि की तरह 'ए' अथवा 'ऐ' लगा कर भी सूर ने अधिकरणत्व प्रकट किया है—

'द्वारे ठाढ़े हैं द्विज बामन'
'हिंडोरै हरि सँग झूलति घोष-कुमारि'

विना विभक्ति के भी 'रंक चलै सिर छत्र धराई' लकुट कर लीन्हें आदि प्रसिद्ध हैं। संस्कृत के समान तुलसी ने भी 'ए' लगाकर अधिकरण का प्रयोग किया है—'अवधेस के द्वारे सकारे गई' इत्यादि। सूरदास ने 'माँझ' आदि का भी प्रयोग किया है—'नैना नैननि माँझ समाने'। उन में समा गये, तब अधिकरण है, कर्म नहीं।

'यहि पाखै सबै कछु ताखै घरौ'—इस पखवारे में सब कुछ ताख में धर दो। यहाँ 'पाखै' और 'ताखै' दोनों ही अधिकरण है। दोनों जगह 'हिं' विभक्ति लगी है। 'पाख' और 'ताख' में 'ख' अन्त में है, जो 'महाप्राण' होने से कुछ कड़ा है; उसके आगे 'हि' का 'महाप्राण, अक्षर 'ह' भी तदवस्थ रहे, तो मृदुता बहुत कुछ कम हो जायगी। इसी लिए, 'ह' का लोप हो गया और 'ख' के 'अ' के साथ 'इ' मिल कर 'ऐं' हो गया। 'ख' आगे 'ऐं' में मिल कर खै' हो गया—पाखैं-ताखैं। साफ है—पाखहिं-ताखहिं।

'ताखे धरौ सब कछु यहि पाखैं' ऐसा भी हो सकता है; पर वर्ण-मैत्री के कारण 'ताखैं' अच्छा लगता है। परन्तु 'ताखे' को 'ताखैं'—'ताखहिं' के वंश का न समझना चाहिए। यह (ताखे) 'द्वारे सकारे गयीं' की तरह संस्कृत के 'उद्याने' आदि के ढंग पर है। इसके लिए हिन्दी में स्वतन्त्र 'इ' विभक्ति की कल्पना करनी होगी। 'अ' और 'इ' मिल कर 'ए'—ताखे। इसी तरह 'सवेरे' 'सकारे आदि हैं, अधिकरण में। भयो सबेरो'। ब्रज-भाषा मे 'सवेरो' और खड़ी बोली में 'सवेरा'। दोनों जगह अधिकरण मे 'सबेरे' हो जाता है—'सवेरे पाँच बजे उठता हूँ'।

इस प्रकार 'हिं' और 'इ' विभक्तियों का भेद है। एक जगह सानुस्वर 'ऐं' और दूसरी जगह निरनुस्वार 'ए' होता है—'पाखैं' ताखे'।

७—सम्बन्ध

इस प्रकार छहों कारकों का निरूपण संक्षेप से हुआ। अब 'सम्बन्ध' के सम्बन्ध में कुछ कहा जायगा। इसमें 'को' विभक्ति लगती है, जिसका रूप स्त्रीलिङ्ग में 'का' हो जाता है। पुल्लिङ्ग बहुवचन यदि सम्बन्धी हो, तब 'को' का रूप 'के' हो जाता है उत्तम और मध्यम पुरुष सर्वनामों में यह विभक्ति नहीं लगती। है। वहाँ दूसरे ही ढंग से सम्बन्ध प्रकट होता है, जिसका निर्देश आगे किया जायगा। 'हरि को ऐसो कछू सुभाव' 'राम के सब ही बन्धु प्रवीन' 'राधा की यह बानि न नीकी' इनमें 'को' के विभिन्न रूप हैं। तुलसीदास के शब्दों में—'राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं'। यहां 'को' के तीनों रूप आ गये हैं।

सूरदास ने कहीं 'हिं' का प्रयोग भी सम्बन्ध प्रकट करने के लिए किया है—'मोहिं प्रभु तुम सों होड़ परी'। 'मेरी तुम से होड़ है' यों 'मोहिं' में 'हिं' से सम्बन्ध प्रकट होता है। 'मोहिं' कर्म कारक नहीं है; क्योंकि 'परी' क्रिया अकर्मक है, जिसका कर्ता 'होड़' है। वह होड़ 'मेरी' है और 'हे प्रभु, तुम से है'। 'सों' 'सह' या साथ' के अर्थ में है—तुम्हारे साथ मेरी होड़ है। यों 'हि' सम्बन्ध सूचनार्थ प्रयुक्त है। यही नहीं, सूरदास ने अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग किये हैं—

'रथ ते उतरि चक्र कर धरि प्रभु,
सुभटहिं सनमुख आये।'

'सुभट के सामने आये, यह स्पष्ट अर्थ है।

मध्यम और उत्तम पुरुष सर्वनामों में 'को' का प्रयोग सम्बन्ध में नहीं होता; बल्कि 'र' के साथ अन्त में 'ए' 'ओ' या ई' लगायी जाती है। उदाहरण—

'तेरो मुख चन्द' 'मेरो भ्रम भारी' 'मेरी भौ-बाधा हरौ' ति 'हमारे व्रज की रीति अनोखी' इत्यादि।

जब कोमलता प्रकट करनी हो, तो ऐसी जगह 'तू' को 'तिह' हो जाता है— तिहारो कहा बिगारो उधौ।' 'तेरो' की अपेक्षा 'तिहारो' मधुर और सुसंस्कृत है। कहीं तू' का ही प्रयोग अच्छा लगता है—

'एरे दगाबाज, तेरे त्यौर मोहिं देखने'

यहाँ दुष्ट सम्बोध्य है; अतः 'तेरे' ठीक है। यहाँ 'तिहारे' अच्छा न रहता। 'मोहिं' कर्ता कारक है 'देखने' क्रिया का। प्यार में 'तिह' सुन्दर लगता है—

'एहो नन्दलाल, हौं तिहारं संग खेलौं ना।'

बस, और कोई विशेष बात इस सम्बन्ध में नहीं है। यों तो प्रत्येक कारक पर बहुत कुछ कहा जा सकता है और 'सम्बन्ध' का दायरा तो बहुत बड़ा है; परन्तु हमें पुस्तक के कलेवर को भी देखना है। छोटी चीज बनाना ही इस समय ठीक है।

८—कुछ विशेष बातें

कारकों का तथा विभिन्न विभक्तियों का परिचय पिछले पृष्ठों मे संक्षेप से दिया गया। इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले कुछ विशेष बातें बतलाना आवश्यक है।

रूप-परिवर्तन

यह बात पिछले उदाहरणों से स्पष्ट हो गयी है कि विभक्तियों के लगने से शब्दों में क्या और कैसे परिवर्तन होते हैं। परन्तु बिना विभक्ति के शब्द ज्यों के त्यों रहते हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अप्राणिवाचक संज्ञाएँ पुल्लिङ्ग और आकारान्त जो 'खड़ी बोली' में हैं; वे ब्रजभाषा में प्राय: ओकारान्त स्वभावत: हैं और 'ल' प्राय: 'र' बोला जाता है। 'नाला' नारो ब्रजभाषा में है और 'झगड़ा' है 'झगरो'। बिना विभक्ति लगे ये रूप ज्यों के त्यों रहते हैं—'भयो अब सूर-स्याम झगरो।' या 'नारो गयो मिलि राह में वाकौं'। 'झगरो' कर्ता कारक में है और 'नारो' कर्म कारक में। विभक्ति लगने पर 'ओ' को प्राय: 'ए' हो जाता है—'नारे कौं' 'झगरे सों' इत्यादि।

प्राणिवाचक पुल्लिङ्ग शब्द आकारान्त जैसे खड़ी बोली में रहते हैं, उसी तरह ब्रजभाषा में। 'सुग्गा' 'खड़ी बोली' में है और ब्रजभाषा में भी—

सुग्गा पर-भाषा रटत, केवल चुग्गा हेत!
ज्ञान-मान बिनु मूढ़ सो, परि बन्धन दुख लेत!

'सुग्गा' ब्रजभाषा में 'सुग्गो' न होगा; जैसा समझने की कुछ लोगों ने गलती की है। इसी प्रकार 'लड़का' ब्रजभाषा में 'लरिका' है, 'लरिको' नहीं। 'सुग्गा' और 'लरिका' में भी प्रयोगगत अन्तर है। विभक्ति लगने पर 'सुग्गा' के 'आ' को 'ए' हो जायगा; पर 'लरिका' ज्यों का त्यों रहेगा—

'मुग्गे कौं दीन्हों फल रसाल।'

'लरिका सों बैर कहा जग में ?'

अप्राणिवाचक भी यदि स्त्री-लिङ्ग है, तो खड़ी बोली की ही तरह आकारान्त रहेगा अन्त में 'ओ' न मिलेगा; जैसे 'पटिया' 'खटिया' इत्यादि। ब्रजभाषा में इनके 'पटियो' और 'खटियो' रूप नहीं होते। इसी प्रकार आकारान्त विशेषण ब्रजभाषा मे ओकारान्त होते है, जो उस प्रकरण मे बतलाये जायँगे। भाषा के अध्ययन से ये सब बाते ध्यान मे आ जाती हैं।

'सम्बन्ध' के सम्बन्ध में

सम्बन्ध-सूचक 'को' विभक्ति को नवीन ब्रजभाषा के कवि (ब्रजभाषा के नवीन कवि नहीं) 'कौ' के रूप में बहुत पसन्द करते हैं। इनकी पुस्तकों में और इनके द्वारा सम्पादित पुरानी कविता-पुस्तकों मे भी सर्वत्र 'को' को 'कौ' बना हुआ देखा जाता है। तो, मधुर ब्रजभाषा में इस प्रकार कर्णकटुता बढ़ाने का मौलिक उद्योग उन्हें मुबारिक हो! देखिए तो सही—

'राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं'

शृङ्गार रस की इस मधुर सूक्ति को यदि यों लिखा जाय—

'राम कौ रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं'

तो क्या स्वारस्य रह जायगा? यह भी कोई परिष्कार है? तभी तो नई ब्रजभाषा-कविता में लोगों को मिठास नहीं मिलता। यदि—

'काको बिगारो कहा कब मैंने'

इसे—

काको बिगारौ कहा कब मैने'

कर दें, तो कैसा लगेगा? इस सम्बन्ध में इतना और समझिए। दीर्घ स्वर से परे—विशेषतः 'आ' से परे—'कौ' बहुत बुरा लगता है; जैसे—वाकौ, काको इत्यादि। परन्तु ह्रस्व स्वर से परे वैसा वर्णकटु नहीं लगता; जैसे—'विधि कौ इतनोई विधान इतै'। हाँ, मधुर रस-भाव आदि में ह्रस्व स्वर से परे भी 'कौ' खलता है; जैसे 'राम कौ रूप निहारति जानकि।' जहाँ वर्णकटु न लगे, वहाँ कोई हर्ज नहीं; भले ही 'कौ' रखिए। परन्तु जब अच्छा न लगे, तब उसका आग्रह न कीजिए। वैसा करने में कोई प्रमाण भी नहीं। 'बिगारो' जैसी ओकारान्त क्रियाओं को भी औकारान्त लिखने लगे हैं—'कियो' को 'कियौ' और 'धरयो' को 'धरयौ'।

यह सब ऊटपटाँग काम अपरिपक्वमति जनों के द्वारा होते हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य का न रस लिया, न भाषा पर विचार किया और कलम पकड़ कर विहारी-पद्माकर आदि को पछाड़ने चल पड़ते हैं। यहाँ प्रसंगवश इस सम्बन्ध में इतना लिखा गया, जिसकी आवश्यकता थी। एक बात और। अकारान्त संज्ञाओं और विशेषणों में तथा क्रियाओं में ये लोग सर्वत्र 'उ' लगा देने के भी पक्षपाती हैं। 'ज्ञान' को 'ज्ञानु' 'प्रसङ्ग' को 'प्रसंगु' 'नीच' को 'नीचु' और 'जरत हियो मेरो' को 'जरतु हियो मेरौ' ऐसा ये लोग लिखते हैं। सो, सर्वत्र आँख मूँद कर चल

पड़ना उनके लिए ठीक ही है ! असली बात जो है, उस पर हम विशेषण तथा क्रिया के प्रकरणों में विवेचन करेंगे। इन बेसिर पैर की बातों का खंडन करने के लिए, या इन्हें विस्तार से प्रदर्शित करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है, न वैसी आवश्यकता ही।

वस्तुत: सम्बन्ध में 'को' है और कर्म आदि में 'कौं'। यहाँ 'औं' की कटुता अनुस्वार की मधुरता से दब जाती है।

सम्बन्ध-सूचक एक और विभक्ति ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुई है, जो 'अवधी' से आयी जान पड़ती है। देखिए—

'भरोसो मोहिं इढ इन चरननि केरो'

स्पष्ट ही 'केरा' का यह मधुर रूप है और सम्बन्धी (भरोसो) के अनुसार है। भरोसा, सहारा आदि भाववाचक आकारान्त संज्ञाएँ ब्रजभाषा में ओकारान्त बोली जाती हैं। परन्तु 'भरोसो' का 'ओ' कभी कभी 'अ' भी बन जाता है—

'भागीरथी, हम दोष-भरे पै भरोस यही कि परोस तिहारो'

परन्तु 'भरोस' की तरह 'सहारो' कभी 'सहार' नहीं हो सकता। यह भाषा की गति है। संस्कृत में दिक्-दिशा, वाक्-वाचा आदि द्विविध प्रयोग होते हैं; पर उन्हीं की तरह 'आशा, को 'आक्' या 'लता' को 'लत्' नहीं कर सकते।

ब्रजभाषा में अवधी के अन्य शब्द भी आये हैं। सूरदास ने 'तेरो' की जगह 'तोर' शब्द का प्रयोग किया है, जो सम्बन्ध-सूचन के लिए 'अवधी' में प्रसिद्ध है :—

'कहा भयो जो अपने सुत पै महि ढरि परी मथानी
'कतहि रिसाति जसोदा इन सों, कौन ज्ञान है तोर ?'

'तोर-मोर' या 'तोरा-मोरा' आदि अवधी-प्रसिद्ध शब्द हैं। परन्तु ये क्वाचित्क प्रयोग हैं। वैसे सर्वत्र ब्रजभाषा ने अपने व्यक्तित्व की रक्षा की है; हिन्दी की विभिन्न 'बोलियों' के सम्पर्क में आकर और उनसे सहयोग करके भी। यही नहीं, ब्रजभाषा ने फारसी आदि के भी शब्द अपनाये हैं; पर उन्हें अपना रंग देकर। और सो भी, दाल में नमक की तरह। सूरदास ने—

'ऊधो मैने सब कारे अजमाये'

प्रसिद्ध प्रयोग है। 'आजमाइश की' के अर्थ में 'आजमाइश' शब्द को नाम धातु बना लिया और उसकी मधुर क्रिया—'अज-माये' कर ली।

सो, सम्बन्ध-सूचनार्थ 'केरा' आदि का ब्रजभाषा में आ जाना कोई 'अनैसी' बात नहीं है। प्रयोग का माधुर्य देखिए, क्या सुन्दर ब्रजभाषा के साँचे में ढाल कर अपना बना लिया है—'केरो' पद्य में कितना अच्छा लगता है—'भरोसो मोहिं दृढ़ इन चरननि केरो। श्रीवल्लभ-नखचन्द्रछटा बिनु, सब जग-माँझ अँधेरो।' अवधी जन-भाषा में 'क्यार' है—इयो राम क्यार आय।

एक ही बात कई तरह से कही जा सकती है। सीता जी की अँगूठी में एक नग है। उस नग में राम का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। उसी प्रतिबिम्ब में वे राम का रूप देख रही हैं। इस प्रकार

यहाँ कई अधिकरण हैं। रूप का अधिकरण प्रतिबिम्ब। उस का अधिकरण नग। नग का अधिकरण अँगूठी। पर अधिकरण सूचक कई विभक्तियाँ इकट्ठा रख दी जातीं, तो बुरा लगता; इस लिए कहा गया—'राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।' 'कंकन' और 'नग' का तथा 'नग' का और 'परछाहीं' का आधार-आधेय सम्बन्ध है, जो 'के' और 'का' विभक्तियाँ बतला रही हैं।

प्रथमा विभक्ति

ऊपर जिन विभक्तियों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त एक और विभक्ति ब्रजभाषा में दिखायी देती है, जिसे संस्कृत की 'सु' विभक्ति की तरह प्रथमा का एक वचन कह सकते हैं। यह है 'ओ' विभक्ति, जो भाव वाचक आदि संज्ञाओं में तथा कृदन्त क्रियाओं में स्पष्ट दिखायी देती है। विविध विशेषणों में भी इस का प्रयोग होता है—

करनो, होनो जानो,
सबेरो, उजेरो, अँधेरो
कियो, गयो, लियो

खड़ी बोली में इस जगह 'आ' विभक्ति है—

करना, होना, जाना,
सवेरा, उजेला, अँधेरा,
किया, गया लिया,

'ओ' तथा 'आ' विभक्ति का बहुवचन रूप 'ए' हो जाता है—

करने, होने, जाने

किये, गये, लिये

मतलब यह कि 'न' तथा 'य' कृदन्त प्रत्यय हैं। उन में फिर 'ओ' या 'आ' संज्ञा—विभक्ति लगती है।

सवेरा, उजेला आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक वचन में ही होता है।

स्त्री-लिङ्ग शब्दों से परे इस प्रथमा विभक्ति का लोप हो जाता है, संकृत की ही तरह।

कहा जा सकता है 'सबेरो' आदि शब्द ही आकारान्त क्यों न मान लिये जायँ? इस प्रकार एक पृथक् विभक्ति की कल्पना क्यों?

उत्तर में निवेदन है कि 'सबेरा'—'सबेरो,' अँधेरा—अँधेरो आदि दो-दो शब्द अलग मानने पड़ेंगे। एक भाषा में शब्द-रूप एक ही ठीक है। विभिन्न बोलियों के विभक्ति—रूप भिन्न माने जा सकते हैं। इसी में लाघव है।

दूसरी बात यह कि कृदन्त प्रत्यय 'न' तथा 'य' आदि में भी गड़बड़ पड़ेगी, यदि 'ओ' तथा 'आ' विभक्ति न मानी जायँगी। कृदन्त में प्रत्येक धातु से भाव में 'न' प्रत्यय होता है और उस में उक्त विभक्तियाँ लग कर—करनो—करना, जानो—जाना, आदि रूप बन जाते हैं। यदि इन्हें विभक्ति न माना जाय, तो फिर नो' और 'ना' ये दो प्रत्यय अलग-अलग मानने पड़ेंगे।

इसी तरह कृदन्त 'य' प्रत्यय भूतकाल में (कर्ता तथा कर्म मे) होता है। उस में 'ओ' तथा 'आ' विभक्तियाँ लग कर—

गयो, गया।

कियो, किया

इत्यादि रूप बनते हैं। उस प्रकार यदि उक्त विभक्तियाँ न मानी जायँगी, तो 'या' तथा 'यो' प्रत्यय अलग-अलग मानने होंगे: जो व्याकरण-जैसे विषय के लिए एक गोरखधन्धा ही होगा।

सो, सब तरह से सोचने पर जान पड़ेगा कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली मे 'ओ' तथा 'आ' प्रथमा विभक्ति के एक वचन रूप ही हैं।

अन्य कृदन्त संज्ञा-शब्दों में भी—

बिछौनो, बिछौना

इस तरह से ये विभक्तियाँ लगती हैं। यदि इन विभक्तियों की सत्ता न मानी जाय, तो हजारों शब्द पृथक्-पृथक् रूप में कल्पित करने पड़ेंगे और प्रत्ययों के भी बहुत भेद बढ़ जायँगे, जो वस्तुतः हैं नहीं।

'जाता है 'जाते हैं' 'किया' 'किये' आदि कृदन्त क्रियाएँ हैं और वर्तमान काल में 'त' तथा भूतकाल में 'य' प्रत्यय धातुओं से हुआ है। फिर 'जात' और 'किय' आदि कृदन्त शब्दों से 'आ' प्रत्यय हुआ, जो संज्ञाओं में लगता है। कृदन्त क्रिया के रूप संज्ञा की तरह चलते ही हैं। प्रथमा विभक्ति लग कर, 'जाता'

और 'क्रिया' रूप हुए। बहुवचन में 'जाते' और 'किये' वने–'लड़के–खिलौने' आदि संज्ञाओं की तरह। फिर 'जाता' के साथ 'है' सहायक क्रिया जोड़ कर–जाता है, जाता हूँ, इत्यादि विभिन्न पुरुष–वचनों में रूप बनते हैं। स्त्री-लिङ्ग में 'जाती' हो जाता है और उस के आगे से प्रथमा विभक्ति 'आ' का लोप हो जाता है, जैसे संस्कृत में 'नदी' आदि शब्दों से परे 'सु' का। यह सब क्रिया–प्रकरण में तथा कृदन्त में स्पष्ट किया जायगा।

यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि 'ओ' ब्रजभाषा में प्रथमा विभक्ति का एक वचन है और जो 'उक्त' हो, उस में यह लगती है।

'राम गयो' 'सीता ने फल लियो'

पहली क्रिया कर्त्तृवाच्य है अतः (क्रिया) पुल्लिङ्ग 'राम' के अनुसार ओकारान्त है। दूसरी (लियो) कर्म वाच्य है अतः कर्म (फल) के अनुसार वह है। भाववाच्य प्रथमा के एक वचन में आते ही हैं–'करनो' आदि। खड़ी बोली में–'करना'।

सर्वनामों के सम्बन्ध में

सर्वनाम ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में प्रायः समान ही हैं। इस लिए एक पृथक् अध्याय न बना कर यहीं इनके सम्बन्ध में भी कुछ कह देना ठीक होगा।

'कोई' ब्रजभाषा में भी आता है; पर 'कोऊ' भी। 'कोई' में 'को' के साथ 'ही' लगी है। 'ह्' का लोप होकर 'कोई' रह गया।

संस्कृत में 'कः' के विसर्गों को विशेष स्थिति में 'ओ' होकर 'को' बन जाता है। हिन्दी ने, उसे ही ग्रहण कर लिया। 'कोई' का निकास संस्कृत 'कोऽपि' से भी सम्भावित है। 'प्' का लोप और इ की मात्रा-वृद्धि। इसी तरह 'सः' का 'सो' और 'यः' का 'यो' हो गया। 'यो' फिर 'जो' बन गया। 'कोऽपि' का संस्कृत में जो अर्थ होता है (कश्चित्), वही ब्रजभाषा में 'कोउ' का होता है। 'अपि' अन्यत्र (संस्कृत में) 'भी' के अर्थ में आता है; पर 'कः' के साथ लग कर ('चित्' का अर्थ) अनिश्चितता प्रकट करता है। ब्रजभाषा में 'हू' प्रत्यय 'भी' के अर्थ में है, ठीक संस्कृत 'अपि' की तरह। यही 'हू' 'को' के साथ मिल कर अनिश्चितता अर्थ प्रकट करता है—कोऊ, कोउ। यही 'कोऊ' अवधी में भी है। 'हू' के 'ह्' का लोप और कहीं-कहीं ह्रस्व। खड़ी बोली में 'ही' पृथक् आकर अवधारणा प्रकट करती है; पर 'को' के साथ लग कर अनिश्चय। 'कोई' ब्रजभाषा मे भी है। अवधी में 'सोऊ' भी है; ब्रजभाषा में कहीं-कहीं। इसी प्रकार 'जेऊ' में संस्कृत का 'ये' 'जे' बन कर है, 'हू' के साथ। जेऊ-तेऊ आदि भी अवधी में ही चलते हैं, ब्रजभाषा में नहीं; यद्यपि 'हू' यहीं से गया है।

तू-तुम और मैं-हम स्पष्टतः संस्कृत 'त्वम्-अहम्' की झलक देते है। खड़ी बोली के बहुवचन 'तुम्हें' और 'तुम्हारा' आदि में तथा ब्रजभाषा के बहुवचन 'तिहारो-तिहारी' आदि मे 'ह' का भी आगम है, जो संस्कृत बहुवचनों में आये हुए 'युष्मान्'-'युष्मा-

कम्' की याद दिलाता है। ष् को ब्रजभाषा में 'स्' और फिर इसे 'ह्'। 'सो' कर्ता कारक में ही हिन्दी ने लिया; क्योंकि संस्कृत में भी ऐसा ही (प्रथमा-एक वचन में) है। शेष सर्वत्र 'तम्' 'तस्य' आदि के ढंग पर तकार का श्रवण है—तोहि, तो कौं, तेरो आदि। खड़ी बोली में भी 'सो' है। सर्वत्र 'वह' से काम नहीं चलता—'जैसे को तैसा' 'जो जागै, सो पावै' आदि कहावतें ज्यों की त्यों हैं। 'त्यों' खड़ी बोली में त्यों ही है। परन्तु साधारणतः 'सो' के बदले 'वह' का प्रयोग होता है।

ब्रजभाषा में 'जो' के साथ 'सो' आता है, और वैसे 'वह' का अपना रूप 'वा'।

'जो तोकूँ काँटे बुवै, ताहि बोइ तू फूल'

'जो पावै अति उच्च पद, ताको पतन निदान'

'जो जानै रस रीति नहीं, तेहि काव्य सुनाय कहा करिए ?

परन्तु जब 'जो' प्रत्यक्ष न हो, तब 'वह' आता है। 'वह' ब्रजभाषा में 'वा' बन जाता है. और 'यह' 'या' हो जाता है—

'वाने कियो अपराध बड़ो है'

'वामें कछू अब सार नहीं है।'

'वाको कहा करिए अब आजु'

'यह' यहाँ 'या' बन जाता है—

'या ब्रज में कछु ऐसो है जादू'

'याको न दोष कछू सजनी'

जब क्रिया कर्तृवाच्य हो. तब कर्ता के एक वचन में प्रायः

'सो' का ही प्रयोग होता है (जो) न रहने पर भी:—'गयो सो समै, गई सो रीति'।

संस्कृतः 'यः' का 'जो' और 'जा' है। 'इदम्' का 'या' है। 'इदम्' के 'इ' को 'या' होना ठीक ही है।

अच्छा; जो, सो को, आदि तो संस्कृत से आये; पर यह 'वह' कहां से बीच में आ कूदा, 'सो' की सत्ता उड़ा कर ?

सोचने से जान पड़ेगा कि 'सो' ही 'वह' बन गया है। भाषा में वर्ण इधर के उधर हो ही जाया करते हैं। 'सो' का 'ओ' इधर हो गया और 'स्' उधर। फिर 'स्' को 'ह्' हो गया और सस्वर भी हो गया; क्योंकि हिन्दी व्यञ्जनान्त शब्दों को पसन्द नहीं करती। जो संस्कृत से ही (विद्वान् आदि) वैसे शब्द आये हैं, उनकी और बात है। इस तरह 'सो' बन गया 'ओह'। पूरब में 'ओहिका' आदि में यह स्पष्ट है। अभी भी 'वह' को कहीं कहीं 'वो' या 'वोह' बोलते हैं। 'व्' 'ओ' में श्रुत नहीं है और प्रमाणप्राप्त भी नहीं है; पर लोग वैसा ख्याल करते हैं। वस्तुतः 'ओ' का और 'व' का स्थान मिलता-जुलता है। इस लिए 'ओ' को 'व' हो गया और 'ओह' बन गया—'वह'। फिर भी, बहुत काफी दिन तक 'वह' और 'ओह' साथ-साथ चले होंगे और इसीलिए कुछ लोग दोनों को मिला कर 'वोह' बोलने लगे, जो अब भी कहीं-कहीं-सुनाई देता है। परन्तु हिन्दी साहित्य ने 'वह' पर ही अपनी मुहर लगायी है।

'जो' सर्वनाम से 'जो' अव्यय भिन्न चीज है। इसी प्रकार

'तो' या 'तौ' अव्यय का 'सो' से कोई सम्बन्ध नहीं। संस्कृत 'यत्' अव्यय का 'जो' है और 'तत्' का 'तो'। य् का ज होना प्रसिद्ध ही है और वर्णलोप। ओकारान्त अन्य शब्दों के अनुकरण पर हो गये।

इस प्रकार खड़ी बोली और ब्रजभाषा में सर्वनाम प्रायः एक ही हैं; कुछ ही कहीं अन्तर है। हमने ऊपर कहा कि 'जो' के साथ 'सो' अच्छा लगता है, चूल से चूल मिल जाती है। वर्ण-मैत्री खासी है। 'जो कहा सो किया' की तरह 'जो कहा, वह किया' भला नहीं लगता है। फिर भी, खड़ी बोली ने 'वह' को ही पकड़ा है। ब्रजभाषा बहुत पुरानी साहित्यिक भाषा है। उसने यथायोग्य दोनों से काम लिया—'सो' को छोड़ा नहीं और 'वह' को भी अपना लिया। दोनों का विषय-विभाग भी बड़ा सुन्दर है।

'कुछ' आदि कुछ सर्वनामों में खड़ी बोली और ब्रजभाषा में वर्ण-विपर्य्यय मात्र का अन्तर है—'कुछ' खड़ी बोली में और 'कछु' या 'कछू' ब्रजभाषा में। 'कुछ' की अपेक्षा 'कछू' में क्या विशेषता है, सो साहित्य-माधुरी का रस लेनेवाले ही समझ सकते हैं। कहीं-कहीं 'कुछ' और 'कछु' को मिलाकर 'कुछु' या 'कुछू' भी कर दिया गया है। हमारे युक्तप्रान्त के पूरबी जिलों में ये ही रूप प्रसिद्ध हैं।

'यह' का बहुवचन 'ये' खड़ी बोली में होता है; पर कुछ लोग 'यह जायँगे' ऐसा गलत लिख देते हैं। हिन्दी में लड़का, कंडा आदि (अपने) अकारान्त शब्दों का बहुवचन बनाने में ही

'ए' होता है, यदि पुल्लिङ्ग हों। 'यह' और 'वह' अकारान्त हैं, तो भी बहुवचन में 'ह' का लोप तथा 'अ' को 'ए' हो जाता है। यह बहुवचन-विधि संस्कृत सर्वनामों के बहुवचन-रूप 'ये' 'ते' आदि के अनुकरण पर है।

'सर्वनाम' इन का नाम इस लिए है कि सब के ये नाम बन जाते हैं। राम भी अपने को 'मैं' कहता है, आप भी और सीता भी। पशुओं के लिए भी 'वह' का प्रयोग कर सकते हैं और पेड़-पौधों के लिए भी। इसी लिए इनका अन्वर्थ नाम 'सर्वनाम' है। 'नाम' और 'संज्ञा' एक ही बात है। प्राचीन शब्दशास्त्र में 'संज्ञा' नहीं, 'नाम' का ही व्यवहार है। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में भी 'नाम' का ही उल्लेख किया है—'नामाख्याते चोपसर्ग-निपाताश्च।' सो, नाम और सर्वनाम का, उन के साथ लगने वाली विभक्तियों का उल्लेख यों एक जगह किया गया।

द्वितीय अध्याय

विशेषण

इस अध्याय में हम संक्षेप से विशेषण के स्वरूप पर विचार करेंगे। किसी की (गुण परिमाण या संख्या आदि की) विशेषता जिन शब्दों से प्रकट होती है, उन्हें 'विशेषण' कहते हैं। क्रिया में संख्यागत विशेषता नहीं होती, अतः क्रियाविशेषण संख्या-बोधक नहीं होते। गुण तथा परिमाण आदि व्यक्ति और जाति आदि की तरह क्रिया की भी विशेषता प्रकट करते हैं। इन्हीं गुण आदि को लेकर विशेषणों के गुणवाचक, परिमाणवाचक आदि भेद किये गये हैं।

प्रयोग-भेद से विशेषण को तीन प्रकार से रख सकते हैं— १-संज्ञाविशेषण, २-क्रियाविशेषण और ३-विशेषण-विशेषण। इन तीनों प्रकार के विशेषणों का प्रयोग कभी उद्देश्य रूप से होता है और कभी विधेय रूप से।

एक ही शब्द प्रयोग-भेद से कभी संज्ञा- विशेषण बन जाता

है, कभी क्रिया-विशेषण और कभी विशेषण का विशेषण। 'पुस्तक अच्छी बनाओ' में या 'घर अच्छे बनाओ' में 'अच्छा' शब्द संज्ञा-विशेषण के रूप में है और वह विधेयात्मक है— 'अच्छा' बनाने का विधान है। पुस्तक या घर को अच्छा बनाना विधेय है। इसे संज्ञा का 'विधेय विशेषण' कहेंगे, जिसके लिए प्रचलित हिन्दी-व्याकरण में एक बेढँगा और अनावश्यक 'पूरक' शब्द रखा गया है। यानी 'पुस्तक अच्छी बनाओ' में 'अच्छी' उन लोगों के हिसाब से 'पूरक' है। पूरक, पूरा करने वाला; किस चीज का? सो नहीं बताया गया, उन व्याकरणों में। वस्तुतः यह 'विधेय विशेषण' है और बिलकुल स्पष्ट है।

परन्तु जब कहा जाय—'अच्छी पुस्तक लाओ' तब केवल 'लाने' का विधान है, पुस्तक लाने का; अच्छी पुस्तक लाने का। यों 'अच्छा' शब्द पुस्तक का विशेषण है, उद्देश्यात्मक। उद्देश्य पुस्तक है। उसके साथ नत्थी है। इस प्रकार संज्ञा के विशेषण दो तरह से प्रयुक्त होते हैं, उद्देश्य रूप से और विधेय रूप से। ब्रजभाषा में—

'बोली कछू अब मीठी बनैये'

यहाँ 'मीठा' शब्द 'बोली' का विशेषण बन कर स्त्री-लिङ्ग है और बोली को मीठा बनाने का विधान है; इसलिए विधेयात्मक विशेषण। परन्तु—

'तेरे मीठे वचन ये विष लौं लागत मोहिं'

यहाँ 'मीठा' शब्द संज्ञा (वचन) का उद्देश्यात्मक विशेषण

है। वाक्य में मीठेपन का विधान नहीं है, 'लगने' का, प्रतीत होने का विधान हैं।

'खड़ी बोली' में जो बात संज्ञा-विशेषण से प्रकट की जाती है, वही कभी-कभी क्रिया-विशेषण से भी प्रकट की जा सकती है। 'पुस्तक अच्छी बनाओ' यहाँ पुस्तक का अच्छा बनाना विधेय है और 'अच्छा' पुस्तक का विशेषण है; इसीलिए स्त्रीलिङ्ग है। परन्तु 'पुस्तक को अच्छा बनाओ' यहाँ 'अच्छा' क्रियाविशेषण है। 'अच्छा' शब्द 'बनाने' में लगता है; अच्छा बनाओ। इस प्रकार क्रिया की विशेषता बताने से क्रिया-विशेषण हुआ। उस क्रिया का कर्म है पुस्तक, जिस पर क्रिया का फल रहेगा। यानी पुस्तक अच्छी बनायी जायगी। इस प्रकार 'अच्छा' शब्द क्रिया के साथ मिलकर भी पुस्तक में ही आ लगा। मतलब दोनों तरह से एक ही निकला—पुस्तक अच्छी बनाओ, पुस्तक को अच्छा बनाओ।

क्रिया में स्वभावतः पुरुष, वचन, लिङ्ग आदि का अभाव है। कर्ता के साथ उसके पुरुष-वचन आदि लग जाते हैं और कर्म-प्रधान होने पर कर्म के। जब कभी इन दोनों में से कोई भी प्रधान नहीं होता, तब क्रिया स्वतन्त्र रूप से रहती है। पर, जब कोई शब्द बोला जायगा, तो कोई न कोई पुरुष-वचन आदि रहेगा ही। फलतः भाववाच्य (स्वतन्त्र) क्रिया में सदा पुल्लिंग अन्य पुरुष, एकवचन रहता है। यह सब वाच्य-प्रकरण में स्पष्ट होगा। सो, क्रिया-विशेषण भी सदा अन्य पुरुष, पुल्लिंग,

एकवचन रहता है; बदलता नहीं है—

पुस्तक को अच्छा बनाओ
मुझे अच्छा बनाओ
हमको अच्छा बनाओ
पुस्तकों को अच्छा बनाओ

इत्यादि। अब कर्ता बदल कर देखिए—

तू पुस्तक को अच्छा बनाता है
मैं मकानों को अच्छा बनाता हूं
लड़के कापी को अच्छा लिखते हैं

उदाहरणों से स्पष्ट है कि यहाँ क्रिया भाव-वाच्य नहीं, कर्तृवाच्य है। कर्ता के अनुसार उसके पुरुष-वचन आदि बदले हैं; पर उस (क्रिया) के विशेषण में कोई परिवर्तन नहीं है। वह ज्यों का त्यों 'अच्छा' है। इससे स्पष्ट हुआ कि क्रिया-विशेषण चाहे कर्तृवाच्य में रहे चाहे कर्मवाच्य या भाववाच्य में, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; क्योंकि वह तो शुद्ध क्रिया की विशेषता प्रकट करता है।

परन्तु ब्रजभाषा में इस तरह के प्रयोग प्रचलित नहीं है। देखिए—

'पुस्तक को कछु नीकी बनैये'

यहाँ 'नीकी' संज्ञा-विशेषण है, पुस्तक की विशेषता प्रकट करता है। 'कौ' विभक्ति विशेष्य के आगे लगा दें, तो भी यह उसी तरह संज्ञा-विशेषण ही रहेगा, क्रिया-विशेषण न बन जायगा, जैसे—

'पुस्तक कौं कछु नीकौ बनैये'

परन्तु ऐसे प्रयोग होते ही नहीं। 'कौं' विभक्ति लगाये बिना-ही ब्रजभाषा में विधेयात्मक संज्ञा-विशेषण किये जाते हैं। यहाँ तो ऊपर वह वाक्य केवल समझाने के लिये दिया है कि 'कौं' लगा देने से भी क्रिया-विशेषण नहीं बनता। 'पुस्तक कौं कछु नीकौ बनैये' नहीं हो सकता, 'पुस्तक कौं कछु नीकी बनैये' चाहे हो भी जाय।

ब्रजभाषा में क्रिया-विशेषण इस तरह होते हैं—

'करहु बेगि सब साज'

'जल धीरे सौं डारि दियो'

'बहुत पहरों सब काहु निरखु'

इत्यादि। 'बेगि' शब्द 'करने' में विशेषता प्रकट करता है, काल-सम्बन्धी। 'धीरे सौं' 'डार देने' की विशेषता बतलाता है, प्रकारता सम्बन्धी। इस से यह भी स्पष्ट हुआ कि क्रिया-विशेषणों में 'सौं' आदि विभक्तियाँ भी लगती हैं। विभक्ति लगने से क्रिया की विशेषता प्रकट करने में कोई कमी नहीं आ जाती है। जो लोग समझा करते हैं कि केवल अव्यय ही क्रिया-विशेषण हो सकते हैं, वे गलती पर हैं।

ब्रजभाषा में अन्य सब बोलियों की अपेक्षा कोमलता और मधुरता अधिक है। 'आ' की अपेक्षा 'औ' में कुछ अधिक कोमलता आ जाती है, किन्तु इतने से काम नहीं चलता है कि बहुत सी संज्ञाओं से, विशेषणों से और क्रियाओं से ब्रजभाषा

को आ की अपेक्षा 'ओ' अधिक ग्राह्य है। खड़ा, पड़ा, भरा बुरा, आदि में सीधी खड़ी पाई (।) अधिकता से लगी रहने के कारण ही 'मेरठी बोली' का नाम सम्भवतः 'खड़ी बोली' पड़ गया हो। ब्रजभाषा में अधिकांशतः 'ओ' का व्यवहार होता है— झगरो, कियो, गयो आदि। यानी 'आ' की जगह 'ओ' प्रायिक है ब्रजभाषा में। इसी तरह आकारान्त विशेषण भी ओकारान्त प्रायः होते हैं; जैसे—कारो (काला) पीरो (पीला), मीठो (मीठा), सीठो (सीठा) चौथो, इत्यादि। बहुवचन में 'या' विभक्तियाँ लगने पर यह 'ओ' 'ए' बन जाता है—

'गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम-सरीर ?

यहाँ आदर के लिए नन्द का प्रयोग बहुवचन में है। अन्यथा—'देख्यो कारो नाग हौं' इस तरह ओ रहेगा। या 'कारो तेरो रूप कन्हैया, हौं राधा कत ब्याहूँ ?' 'ओ' के 'ए' हो जाने के और उदाहरण लीजिए:—

'मीठे बचननि सों सबै जग अपनो करि लेन'
'रहिमन' करुए मुखनि कौं चहियत यही सजाय
बिनु स्वारथ कैसे सहै, कोऊ करुए बैन ?
'नीके हू कहिए बचन कबहूँ फीके होयँ'

परन्तु स्त्री-लिङ्ग विशेष्य के साथ ऐसे (ओकारान्त) विशेषण सदा ईकारान्त हो जाते हैं, कोई भी वचन-पुरुष आदि क्यों न हो, और चाहे जो विभक्ति लगी हो, चाहे न लगी हो—

'कारी कामरि धोरी धूगरि धेनु चराये आवत'

'स्याम निहारो अति मोठी बतयानि'

'करुई भेषज बिनु पिये, मिटै न तन को ताप।'

जो विशेषण अकारान्त हैं, उन में (आकारान्तों की तरह) प्रचण्डता नहीं है; फलतः वे ब्रजभाषा में भी उसी रूप में प्रयुक्त होते हैं—

'भली वह पीत पट फहरानि'

'नील पट श्री राधिका को'

'मधुर वह मुसकानि।'

ऐसे विशेषण बहुवचन में और विशेष्य में विभक्ति लगने पर भी अपना रूप नहीं बदलते—

'मधुर बचननि जननि मोही'

'नील पट ते कुसुम बिथरे'

'हरित धरनी कौं निरखि मन'

अन्तिम उदाहरण से यह भी स्पष्ट हुआ कि ऐसे विशेषण स्त्रीलिंग विशेष्य के साथ भी अपने उसी रूप में रहते हैं। परन्तु 'धरनी' के साथ 'हरित' शब्द स्त्रीलिंग ही कहा जायगा, रूप-परिवर्तन न होने पर भी। विशेषण जो स्त्रीलिंग का हुआ! इसी तरह 'मधुर बचननि' में 'मधुर' बहुवचन है।

इस प्रकार संज्ञा तथा क्रिया के साथ ब्रजभाषा में विशेषणों का प्रयोग होता है।

विशेषणों के भी विशेषण होते हैं—

'अति के मीठे वचन हु कबहुँ करै कलेस'

'तनक कारो तन हमारो'

'मीठा' विशेषण है 'वचन' का। उस (विशेषण) की विशेषता 'अति कौ' शब्द प्रकट करता है—बहुत ज्यादा मीठे वचन। इसी तरह 'तनक' शब्द 'कारो' की विशेषता प्रकट करता है—जरा सा काला। ये दोनों (अति कौ और तनक) परिमाणवाचक विशेषण हैं और इन के विशेष्यों में एक (मीठे) गुणवाचक विशेषण है 'वचन' का और दूसरा (कारो) भी ऐसा ही विशेषण 'तन' का है।

विशेषण के ऐसे विशेषणों को ही हिन्दीव्याकरण में 'अन्तविशेषण' कहते हैं। मालूम नहीं, 'अन्तर' शब्द से वे क्या समझते हैं! शायद किसी अंग्रेजी शब्द का अनुवाद हो, और अंग्रेजी भाषा के व्याकरण से लिया गया हो।

संज्ञा, क्रिया और विशेषण की ही तरह सर्वनाम मे भी विशेषण लगते हैं—

'तुम कों वाने भलो समुझ्यो'

'हौं तो कूर अति बदनाम'

'तुम' का विधेयात्मक विशेषण 'भलो' है और 'हौं' का कूर तथा 'बदनाम' ये दो विशेषण हैं। 'वै सब मेरे देखे' यहाँ सब संख्यावाचक विशेषण 'वै' सर्वनाम का है और उद्देश्यात्मक है। 'वै चारि हैं घर माहिं' यहाँ 'चार' विशेषण 'वै' का विधेय रूप है, चार की संख्या विधेय है।

इसी तरह अन्यत्र समझना चाहिए।

जैसा कि खड़ी बोली में है, व्रजभाषा में भी विभक्ति विशेष्य के ही आगे लगती है और उसके लगने से केवल ओकारान्त विशेषण में परिवर्तन हो जाता है। वह 'ए' बन जाता है। शेष सब विशेषण, स्त्रीलिंग में भी, ज्यो के त्यों रहते हैं। पीरो पट, पीरे पट, पीरे कौं। लाल पट. लाल पट देखे, लाल है सो चीज, लाल रतन मानिक सों मोह्यो, इत्यादि।

'हिन्दी विमल मूरति' इस तरह स्त्रीलिङ्ग विशेष्य के साथ भी 'विमल' शब्द अपरिवर्तित रूप में ही प्रयुक्त होता है, व्रजभाषा में तो सुतराम्। कारण, यहाँ तो आकारान्त चीज वैसे भी बहुत कम चलती है। परन्तु 'विमल' शब्द है यहाँ स्त्रीलिंग ही। कोई-कोई संस्कृत की तरह हिन्दी मे भी—

सरला तेरी मूर्त श्यामला
राम, जगत विस्तारती

इस तरह 'सरला' और 'श्यामला' जैसे विशेषण देते हैं। सो, अच्छे लगें, तो अच्छे। यदि अटपटे जान पड़ें, तो न सही। कहीं तो अच्छे लगते हैं, कहीं नहीं। परन्तु 'विस्तारती' जैसी क्रियाएँ तो बिलकुल भद्दी लगती हैं। 'विस्तार करती है' यह इतना बड़ा प्रयोग करना पड़ेगा; पर चालू ही यह है। पंजाबी भाषा में बोलते हैं—रेल इत्थे खड़ती नहीं। हम बोलेंगे—रेल यहाँ खड़ी नहीं होती। 'खड़ती' इस संक्षिप्त रूप को हम हिन्दी में लिखें—'रेल वहाँ भी खड़ती है' तो कितना भद्दा हो जायगा?

प्रश्न हो सकता है कि उठती, बैठती आदि की तरह 'खड़ती' क्यों न लिखा जाय ? जवाब यह कि भाषा का प्रवाह नहीं है। निरुक्त में यास्क ने लिखा है—'शवति कम्बोजेषु, शव इत्यार्य्येषु' यानी 'शवति' यों क्रिया रूप से कम्बोज मे प्रयोग होता है; पर आर्यों में इसका कृदन्त रूप 'शव' प्रसिद्ध है; आख्यात शवति नहीं। सारांश यह कि भाषा के प्रवाह को देखना चाहिए। व्याकरण भी उसी का अनुगमन करता है। यदि 'विस्तारती' और 'खड़ती' क्रियाएं खटकती नहीं, तो ठीक है; चलेंगी। अन्यथा ऐसे प्रयोग भद्दे समझे जायँगे। पंजाबी भाषा के दृष्टान्त से 'विस्तारती' को संस्कृत क्रिया न समझ लें। यह मनगढ़ प्रयोग है।

कुछ विशेष बातें

हमने पीछे बताया कि जो विशेषण खड़ी बोली में आकारान्त हैं, वे ब्रजभाषा में प्राय: ओकारान्त प्रयुक्त होते हैं; यदि विशेष्य पुल्लिंग हों—थोरो, दूजो, चौथो, हरो आदि। परन्तु कुछ विशेषण ऐसे भी हैं, जो खड़ी बोली में प्रयुक्त होते हैं; पर ब्रजभाषा में नहीं; जैसे—बढ़िया, ज्यादा आदि। इन विशेषणों का ब्रजभाषा में प्रयोग प्राय: देखा नहीं गया और यदि हो भी, तो इनके 'आ' का 'ओ' न होगा। ये शब्द 'बढ़ियो' और 'ज्यादो' न बनेंगे; पुल्लिङ्ग विशेष्यों के साथ भी। यह क्यों नहीं होता, इस का उत्तर हम नहीं दे सकते। उत्तर में इतना ही कह सकते हैं कि भाषा का प्रवाह ऐसा ही है। हिन्दी में अधिकांश संस्कृत शब्दों के अन्त्य 'क' को 'ग' हो जाता है; जैसे शाक—साग,

काक-काग, इत्यादि। परन्तु नाक (स्वर्ग) का 'नाग' न होगा, न पिनाक 'पिनाग' बनेगा। क्यों? क्योंकि प्रवाह ऐसा ही है। संस्कृत में (और हिन्दी में भी) सरोज से 'सरोजिनी' और कमल से 'कमलिनी' बनते और चलते हैं; पर जलज से 'जलजिनी' या सरसिज से 'सरसिजिनी' नहीं बनते, न प्रयुक्त होते हैं। व्याकरण इसमें बाधक नहीं है, फिर भी नहीं बनते-चलते। इसी तरह प्रत्येक भाषा का अपना प्रवाह होता है।

कुछ लोग इतै-उतै दिशा-वाचक, जहँ-तहँ स्थान-वाचक, जब-तब समय-वाचक आदि अव्ययों को भी क्रिया-विशेषण लिख देते हैं और डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने भी ऐसा ही लिखा है। सो सब गलत है। इनसे क्रिया में कोई विशेषता नहीं जान पड़ती। हाँ, जिन अव्ययों से क्रिया की विशेषता द्योतित हो, उन्हें अवश्य क्रिया-विशेषण कहा जायगा; जैसे 'धीरे धीरे' 'औचक' इत्यादि। 'औचक आइगयो' चुपचाप अचानक आ गया। यहाँ 'औचक' से आने की विशेषता प्रकट होती है; इस लिए यह क्रिया-विशेषण अवश्य है। पर 'जहँ गोपाल नचत गोपन सँग' यहाँ 'जहँ' किस तरह क्रिया-विशेषण हो जायगा? नाचने की विशेषता इससे क्या प्रकट हुई? यदि ऐसा ही है, तो फिर 'जा थल नचत नन्दनन्दन जू' यहां 'जा थल' क्रिया-विशेषण क्यों नहीं? फिर तो सभी कारक क्रिया-विशेषण हो जायंगे। यह भी कोई तमाशा है?

तृतीय अध्याय

अव्ययों के सम्बन्ध में

ब्रजभाषा में जो संस्कृत के अव्यय तथा उपसर्ग प्रयुक्त होते हैं, उन्हें तत्सम या तद्रूप में न ले कर प्रायः तद्भव रूप दे दिया गया है, जैसे 'प्रातः' को 'प्रात' 'अरे' को 'एरे' 'अहो' को 'ओहो' 'हा' को 'हाय' इत्यादि ।

'प्रात समै उठि जनकनन्दिनी त्रिभुवननाथ जगावैं'

'एरे दगाबाज मेरे पातक अपार तोहिं गंगा के कछार
में पछारि छार करिहौं'

'ओहो दियो निज दरस दया करि'

'हाय सखा दुच पाये महा' इत्यादि ।

संबोधन में 'एहो' आदि मधुर अव्यय ब्रजभाषा की अपनी चीजें हैं—

'एहो नन्दलाल कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तौ मुगलानी पै हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं'

'ए' अव्यय सम्बोधन में ब्रजभाषा को कम स्वीकार है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित (श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित) 'संक्षिप्त सूरसागर' में अन्यपुरुष-वाचक सर्वनाम 'यह' का बहुवचन सर्वत्र 'ए' छपा है, जो प्रेस की गलती या सम्पादक की असावधानी है। 'ए' सम्बोधन में आता है, और 'यह' का बहुवचन 'ये' होता है।

श्रवणकटु अव्यय संस्कृत के 'सम्प्रति' आदि ब्रजभाषा को ग्राह्य नहीं हैं।

ब्रजभाषा के अपने भी बहुत अव्यय हैं—धौं, किधौं, लौं, हू; इत्यादि—

'कहा धौं करै विधि जाय न जानी'

'धौं' यहाँ वितर्क में है। न जाने क्या करे!

'किन्नरी है किधौं देववधू है'

'किधौं' सन्देह में है। किन्नरी और देव-वधू का सन्देह है। एक 'लौं' औपम्य-वाचक है और दूसरा 'तक' के अर्थ में आता है। 'हू' 'भी' के अर्थ में आता है।

हिन्दी में प्रकृति और प्रत्यय के बीच में भी अव्यय कभी कभी आ जाता है—'राम ही पर तो सब दारमदार है।' ब्रज-भाषा में भी अव्यय कभी-कभी प्रकृति और प्रत्यय के बीच में

आ जाता है—'रामहु कौं बनवास दियो है'। राम को भी बनवास! उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि 'हू' का 'ऊ' ह्रस्व हो गया है, और वह प्रकृति (राम) से बिलकुल चिपट गया है। ऐसे स्थलों में इसी प्रकार प्रयोग होता है, प्रकृति से मिला कर। यदि आगे विभक्ति न हो, तब 'हू' प्रायः अलग रहेगा और 'ऊ' भी ह्रस्व न होगा—

'राम हू न आयो काम, विधि बिगरे तें'

राम भी काम न आये, जब प्रारब्ध ने धोखा दिया। परन्तु विभक्ति परे होने पर सर्वत्र ही 'ऊ' छोटा हो जाता हो, सो बात भी नहीं है—

'विधि हू को मन ऐसो भयो है'

यहाँ 'हू' अपने असली रूप में है। कभी-कभी 'हू' के 'ह' का लोप हो जाता है—

'कोऊ न आवै इतै तब लौं'

'कोऊ' में 'हू' 'ऊ' बन कर मिल गया है और अपना अर्थ दे रहा है—'कोई भी'। इसीलिए 'कोऊ' के आगे किसी भी तरह 'हू' का प्रयोग नहीं हो सकता। 'कोऊ हू न आवै' न होगा। दो बार 'हू' का प्रयोग भद्दा लगेगा।

शब्दों में इस प्रकार वर्ण-विकार आदि जीवित भाषाओं में हुआ ही करता है, कहीं वर्ण का लोप, कहीं आगम, कहीं विकार और कहीं विपर्य्यय। सभी भाषाओं मे यह सब होता है, केवल ब्रजभाषा में ही नहीं। इस बात को जरा स्पष्टता-पूर्वक समझ लेना चाहिये।

काल-भेद से और देश-भेद से एक ही शब्द कई रंगों में आ जाता है। कभी-कभी बीच में एक वर्ण नया ही आ कूदता है। 'मेरठी बोली' में 'बताना' क्रिया है, जो वहाँ 'मैं तुम्हें बुताऊँ' इस तरह बोली जाती है। वहाँ 'मैं तुम्हें बुतलाऊँ' ऐसा कोई नहीं बोलता। परन्तु जब उसे 'राष्ट्रभाषा' का रूप मिला और वह 'साहित्यिक भाषा' बनी, तब कुछ परिष्कार हुआ। 'बुताना' का 'उ' काट कर अलग कर दिया गया और 'अ' लगा दिया गया। साहित्य में कलम की करामात! फिर आगे चल कर वैकल्पिक रूप से उसमें 'ला' का आगम हुआ, एक नया अक्षर आ कूदा। बताना-बतलाना, ये दोनों रूप चालू हुए। यों यह 'आगम' हुआ, नई आमदनी।

बात यह है कि ब्रजभाषा में 'बताना' नहीं, 'बतराना' क्रिया है—'ऊधौ, स्याम की बतरानि'। ब्रजभाषा की 'बतराना' क्रिया से 'मेरठी बोली' में 'रा' आया, 'ला' बन कर, जब वह साहित्यिक भाषा बनी। यों, यहाँ वर्ण का आगम विकार के साथ-साथ है। एक अक्षर आया; पर कुछ बदल कर।

इसी तरह वर्ण का विपर्य्यय भी भाषा में होता है। शब्द का एक अक्षर कहीं से कहीं जा बैठता है। 'देहली' अंग्रेजी में 'देह्ली' बन गया। ह और ल इधर-उधर हो गये। हिंसा करे, सो 'हिंस'। परन्तु संस्कृत में ह और स इधर-उधर हो कर 'सिंह' बन गया। यही वर्ण-विपर्य्यय है। कभी-कभी शब्द के सभी वर्ण बिलकुल बदल जाते हैं, आत्यन्तिक वर्ण-विकार हो जाता

है। संस्कृत का 'धृष्ट' हिन्दी में 'ढीठ' बन गया। सब शब्द बदल गये। आभास मात्र रह गया।

सो, यही सब ब्रजभाषा में भी नैसर्गिक विधि से होता है, हुआ है और होता रहेगा, जब तक यह 'जीवित भाषा' रहेगी।

यह इतना प्रासंगिक निवेदन हुआ। अब फिर अव्ययों की ओर आइए।

'हू' की ही तरह 'ही' प्रत्यय भी लोप आदि के साथ ब्रज-भाषा मे काम आता है। 'हू' तथा 'ही' के 'ह' का प्रायः लोप ब्रजभाषा मे होता है। ऐसा लोप अन्य अव्ययों में नहीं देखा गया। इसका कारण यह है कि ह' कर्णकटु अक्षर है और इसी लिए इसका कड़वापन कम करके बिलकुल दूर करके, ब्रजभाषा अपने काम में प्रायः लाती है।

'रामहि कौं सखि जानकि ब्याही'

यहाँ 'रामहि' में हि' विभक्ति नही है। विभक्ति तो आगे 'कौं' पड़ी है। कर्म आदि कारकों में जो विभक्ति काम आती है, वह 'हि' नही, 'हिं' है। 'हिं' विभक्ति भी प्रकृति में सट कर प्रयुक्त होती है। और 'ही' अव्यय भी, 'हि' होकर उसी तरह। इसीलिए लोगो को सन्देह या भ्रम हो जाता है। यहाँ 'ही' अव्यय 'हि' बन कर, वर्ण-विकार के साथ आया है। कभी-कभी 'ही' अव्यय ह्रस्व होकर सानुस्वार भी हो जाता है और तब भ्रम और भी बढ़ सकता है। किन्तु प्रकरण-प्रयोग से स्पष्टता हो जाती है।

कभी कभी, प्रायः सर्वनामों के साथ 'ही' अपने 'ह्' को

छोड़ कर आती है। 'ह्' का लोप हो जाता है—

'ऐसोई विधान बनायो विधाता'

ऐसा ही' विधान। इसी तरह 'हू' भी ह्' को अलग करके ऐसे स्थलों में आता है—

'कैसोऊ विधान होय मेरे जान जग को'

कैसा भी विधान। 'कैसो हू विधान' यों शब्द-स्थिति है। 'हू' 'ऊ' मात्र रह कर प्रकृति से मिल गया है। इस प्रकार 'ह्' का लोप खड़ी बोली में भी होता है—

'इसी तरह काम करते रहो सफलता मिलेगी'

यहाँ 'इसी' सावधारण है। 'इस ही तरह' कहना है। 'इसी' में 'इस ही' ये दोनों शब्द मौजूद हैं। तभी तो वह अर्थ निकलता है, और यही कारण है कि 'इसी' के आगे 'ही' नहीं दिय जा सकता। 'इसी ही तरह काम करते रहो' न बोला जायगा; क्योंकि इसमें तो 'ही' पहले से ही है, तब दूसरा 'ही' व्यर्थ आ कर भोंड़ापन पैदा करेगा।

'सभी लोग आ जायँ' यहाँ 'सब' के साथ 'ही' है और 'ब' तथा 'ह्' मिलकर 'भ' हो गया है। इसीलिए 'सभी ही' नहीं बोला जाता। 'तब' और 'ही'—तभी। इसी तरह अन्यत्र समझें।

'ऐसी ही कृपा रखिएगा' यहाँ 'ऐसी' में 'ही' नहीं है, इसी लिए आगे 'ही' है। ऐसा का स्त्रीलिङ्ग रूप 'ऐसी' है।

तो, इसी तरह ब्रजभाषा में 'हूँ' तथा 'ही' के 'ह्' का बहुधा लोप हुआ करता है। एक बात और। मधुरता लाने के लिए

'ही' और 'हू' कभी-कभी सानुस्वार या सानुनासिक भी कर दिये जाते हैं।

'अबहीं कहा चलाइयत ललन चलन की बात !'

'कबहूँ तौ धुनि कान परैगी।'

किन्तु सर्वत्र नहीं—

'एकहू उपाय न देखि पर्‌यो तब'

यहाँ 'हूँ' न होगा। प्रायः अब, जब, तब, आदि अव्ययों के साथ आने पर ही ये सानुस्वार या सानुनासिक देखे जाते हैं।

कभी कभी 'ही' के 'ह्' का लोप होकर पूर्व स्वर से सन्धि हो जाती है—

'जबै प्रभु कान सुनी बिनती'

तबै उठि कै तजि बाहन धाये'

'जब' और 'ही'—'जबै'। 'ही' के 'ह्' का लोप होगया और 'अ' तथा 'ई' मिलकर 'ऐ' बन गये। 'अ' और ई' मिलकर संस्कृत में भी कभी-कभी 'ऐ' हो जाता है, यद्यपि उत्सर्गतः 'ए' होता है और हिन्दी तो एक स्वतंत्र भाषा है; स्वतन्त्र सत्ता और विधान रखती है। इसी तरह 'तबै' में 'तब' और 'ही' की उप. स्थिति मिल जुल कर है।

खड़ी बोली में भी वर्ण-लोप होने पर स्वर-सन्धि होती है। 'किया' का स्त्री-लिङ्ग रूप बनाने के लिए 'ई' प्रत्यय लगाया गया, जैसे पढ़ा से 'पढ़ी' और 'गया' से 'गयी' बनाने में लगा है। ई' प्रत्यय लगने पर 'किया' के 'या' का पूरा लोप हो गया

और बच गया 'कि ई' । दोनों में सवर्ण दीर्घ सन्धि होकर 'की' क्रिया बन गयी । मैंने 'तयारी की' इत्यादि । 'गया' से 'ई' प्रत्यय होने पर 'आ' का लोप हो गया और 'गयी' क्रिया बन गयी, 'य' 'ई' में जा मिला ।

हिन्दी-व्याकरणों में ये सन्धियां समझायी नहीं गयी हैं । 'गयी' आदि में 'य' का स्पष्ट श्रवण नहीं है; इसलिए 'य' का वैकल्पिक लोप होता है और 'गयी' तथा 'गई' ये दोनों रूप चलते हैं । 'लिया' क्रिया का बहुवचन 'लिये-लिए' दोनों तरह से होगा; पर 'लिए' अव्यय को 'लिये' लिखना गलत होगा । राम ने फल लिये या 'लिए' दोनों ठीक है। पर 'राम के लिये फल लाया' ऐसा लिखना गलत है । य का स्पष्ट श्रवण नहीं । प्रमाण प्राप्त भी वह नहीं है । इसी तरह 'चाहिए' को 'चाहिये' लिखना भी गलत है ।

'य' का लोप 'गये' में वैकल्पिक इसलिए कि य प्रमाण प्राप्त होने से रह भी सकता है, और स्पष्ट श्रुत न होने से लोप भी हो सकता है । परन्तु 'गयो' 'आयो' आदि में श्रुत है; अतः लोप नहीं होता । यह क्या बात है कि इ, ई या 'ए' परे होने पर 'य' का स्पष्ट श्रवण नहीं है; पर अन्य स्वर परे हों, तो ऐसी बात नहीं होती; 'य' बराबर श्रुत होता है। इसका कारण है। समान जातीय पदार्थ इकट्ठे होकर ऐसे मिल जाते हैं कि अलग नहीं पहचाने जा सकते । आधी बाल्टी पानी में आप एक लोटा गंगाजल मिला दें, तो वह ऐसा मिल जायगा कि आपको मालूम न होगा । इसी

तरह वर्ण भी मिल जाते हैं। 'य' का तालु स्थान है और 'इ', 'ई' तथा 'ए' का भी।

सब सवर्ण या सजातीय हैं। इसीलिए 'य' आगे 'इ', 'ई', या 'ए' में मिल कर स्पष्ट ध्वनि नहीं देता और इसी लिए संस्कृत में भी ऐसे स्थल में 'य' का वैकल्पिक लोप होकर 'हरयिह' और 'हर इह' यों दो-दो रूप होते हैं। स्वर अपनी सत्ता रखता है और आश्रित सवर्ण व्यंजन अपनी सत्ता खो बैठता है।

इसमें भी विशेषता है। 'गई' और 'गयी' दो रूप हो जायँगे परन्तु जब 'य' दो इकारों के बीच में हो, 'इ' या 'ई' से परे 'य' हो और उससे परे फिर 'ई' हो, तब तो 'य' का लोप आवश्यक रूप से होता है। ऐसे स्थल में वैकल्पिक लोप नहीं होता। कारण, दो इकारों के बीच में 'य' कभी पृथक् अस्तित्व रख ही नहीं सकता। 'किया' पुल्लिङ्ग क्रिया है। स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए 'ई' स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय होता है, तब 'कि या ई' ऐसा रूप रह गया। 'क' के अन्त में 'इ' स्पष्ट है जो य' से पहले है। इन दो इकारों के बीच में 'य' कभी रह नहीं सकता; बिलकुल लोप हो जाता है। 'या' का लोप हो जाने पर दीर्घ 'ई' बन गयी, सवर्ण दीर्घ हो गया। तब किया क्रिया का स्त्रीलिङ्ग 'की' रूप हो गया। इसी प्रकार 'पिया' से 'पी'।

'य' से पहले 'इ' 'ई' या 'ए' हो और बाद में कोई असवर्ण स्वर हो, तब लोप नहीं होता; क्योंकि तब तो वह असवर्ण स्वर में जाकर मिलने से अपनी अलग झलक रखेगा; जैसे 'किया'।

ब्रजभाषा में कुछ विशेष लोप आदि के रूप हैं; जैसे ,लगायो क्रिया के 'य' का वैकल्पिक लोप 'कंठ लगाय लियो' और 'कंठ लाय लियो' दोनों ठीक हैं। 'य' और 'इ' सवर्ण होने से परस्पर एक दूसरे के स्थान पर आते रहते हैं। 'लाइ लियो' भी ठीक है और 'लाय लियो' भी। संस्कृत में भी इ-ई को 'य' तथा 'य' को इ बहुधा होता रहता है। जब दीर्घ स्वर से परे इ' या 'य' हो, तभी रूप परिवर्तन होता है—आइगयो, आय बुलायो, ऐसो होय, ऐसो होइ तौ होइ कोई, कोय इत्यादि। परन्तु दीर्घ ई से परे या 'ऊ' से परे यह रूप परिवर्तन न होगा।

प्रासंगिक चर्चा बहुत बढ़ गयी। हम कह रहे थे कि ब्रजभाषा में 'हू' तथा 'ही' अव्यय के स्वर कभी ह्रस्व हो जाते हैं और कभी इनके 'ह' का लोप हो जाता है। कभी 'ह' की दूसरे वर्ण से सन्धि भी हो जाती है। इन बातों को उदाहरण दे-दे कर हम स्पष्ट भी कर चुके।

किसी-किसी जगह तो सन्धि आदि होकर ऐसा रूप बन जाता है कि अव्यय का रूप पृथक् जल्दी से समझ ही नहीं आता; किन्तु अर्थ के कारण ध्यान देने पर झलकता है। यदि शब्द न हो, तो अर्थ कहाँ से आयेगा ? देखिए—

'अजौं न आये सहज रंग, विरह-दूबरे गात'

'आज' और 'हू' मिलकर 'अजौं' हो गया है। 'हू' मधुर रचना में सानुस्वार हो जाता है; यह कहा गया है। यहाँ शृङ्गार रस है, सबसे मधुर। इसी लिए 'हू' की कटुता 'ह' को हटा कर

सम्पादित की गयी है और उसे सानुस्वार करके मधुरता लायी गयी है। 'आज हू' आज भी, आज तक, यह 'अजौं' का अर्थ है। 'आज' का 'आ' ह्रस्व हो गया है। 'हू' अपना 'ह' हटा कर और सानुस्वार होकर 'ऊँ' हो गया और फिर 'ज' के 'अ' के साथ मिल कर, अ और ऊँ की सन्धि होकर 'जौं' बन गया। 'अजौं' यह रूप हो गया। 'अजहुँ' करके भी दोहे में दे सकते थे; पर 'ह' के हटने से शृङ्गार के अधिक अनुकूल हो गया।

व्रजभाषा के अपने इत-उत (इतै उतै), कत, जित-तित (जितै-तितै) आदि शतशः अव्यय हैं। उन सबका उल्लेख या उदाहरण-प्रदर्शन बहुत विस्तार चाहते हैं। काम की बाते सन्क्षेप से आ गयीं।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि सर्वत्र, एकत्र, सर्वदा आदि उच्चारणकटु अव्यय व्रजभाषा में नहीं प्रयुक्त होते। 'एकत्र' आदि कभी आते हैं, तो व्रजभाषा के अनुरूप मधुर बन कर, कर्कशता त्याग कर; जैसे—

'कहलाने एकत बसत अहि-मयूर मृग-बाघ' परन्तु इसी तरह 'सर्वत्र' का 'सर्वत' न होगा।'अन्यत्र' का अनत' होता है— 'सुनियत अनत सिधारे'

'सदा' आदि ले भी लिये जाते हैं। पर 'होत जहाँ सर्वत्र राग-रँग' इत्यादि व्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं। यों तो फिर भाषा ही है; कोई प्रयोग करे, तो उस पर कोई 'आर्डिनेंस' थोड़े ही लगाया जायगा। करते ही हैं लोग मनमाने प्रयोग।

परन्तु खीर में हलदी-मिर्चा का क्या मेल ? पर ये सब तो 'साहित्यशास्त्र' की बातें हैं कि कौन शब्द कहाँ अच्छा लगता है, कहाँ नहीं। व्याकरण केवल नस-नाड़ी देखता है। ऊपर सौन्दर्य देखना साहित्यशास्त्र का काम है, जो एक प्रकार का शब्दशास्त्र ही है और उसे हम सूक्ष्म व्याकरण भी कह सकते हैं। प्रसंगवश कहा गया कि 'सर्वत्र' 'सर्वदा' आदि अव्यय व्रजभाषा हजम नहीं कर सकती, पेट में दर्द होता रहेगा।

कभी-कभी कोई अव्यय दीर्घ से ह्रस्व भी अपना स्वर कर लेते हैं, जैसा कि 'हू' तथा 'हि' के बारे में बतलाया गया है। 'जौ' अव्यय ह्रस्व होकर आता है, जब 'पै' साथ में हो—

'एते भये तौ कहा तुलसी जोपै राजिवलोचन राम न जाने'

यहाँ 'जौपै' न होगा। वैसे यह अव्यय कभी 'जौ' और कभी 'जो' आता है। 'पै' के साथ 'जौ' नहीं आता। 'जो' की तरह 'तो' व्रजभाषा में नहीं आता। उसका रूप सदा 'तौ' ही रहता है। यों अव्ययों में व्रजभाषा की प्रवृत्ति दीर्घ की ओर प्रायः है—तो का 'तौ' और जो का 'जौ' आदि। इस एकदेशीय दीर्घ-प्रवृत्ति को अनेक भाषाविज्ञान के पण्डितों ने सामान्यतः लिख दिया कि व्रजभाषा दीर्घाभिमुख है। उनकी बात मान कर कुछ व्रजभाषा प्रेमी क्रिया आदि में भी वैसा करने लगे—कियौ, सोयौ आदि। सो गलत। हाँ, आज्ञार्थ 'करो' आदि का 'करौ' आदि होता ही है।

कभी-कभी 'पै' के साथ 'जौ' और भी छोटा बन जाता है, 'ओ' नहीं, 'उ' मात्र रखता है; जैसे—

'मान घटे ते कहा घटिहै जुपै प्रान पियारे कौं देखन पैये'
वैसे 'जो' तथा 'पै' का अलग-अलग प्रयोग होता ही है—

'जौ न स्याम-रँग डूबे'

और —

'हो तौ मुगलानी पै हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं'

इस प्रकार दो-दो अव्यय एकत्र मिल कर 'खड़ी बोली' में और संस्कृत में भी आते हैं। 'यदि' और 'अपि' का पृथक्-पृथक् प्रयोग भी होता है और मिलकर 'यद्यपि' के रूप में भी। संस्कृत में 'परम्' तथा 'तु' अलग-अलग भी आते हैं और इकट्ठे होकर 'परन्तु' बन कर भी।

औपम्य-वाचकों में ब्रजभाषा के 'लौं' आदि अपने अव्यय हैं। संस्कृत के 'इव' आदि तथा फारसी के 'तरह' आदि शायद ही किसी ने कभी प्रयुक्त किये हों। 'अवधी' में तुलसीदास जी ने 'इव' का काफी प्रयोग किया है, पर ब्रजभाषा में (कवितावली आदि में) उन्होंने भी इसे दूर ही रखा है।

आगे, पीछे, ऊपर आदि अव्यय 'खड़ी बोली' में भी आते हैं और ब्रजभाषा में भी; पर इधर, उधर, किधर, जिधर आदि ब्रजभाषा में नहीं लिये जाते। अब, जब, तब प्रभृति काल-वाचक अव्यय 'खड़ी बोली' और ब्रजभाषा में समान हैं। ये सब अव्यय क्रिया-विशेषण नहीं हैं, यह पहले कहा जा चुका है।

'कभी' 'तभी' आदि ब्रज भाषा में नहीं आते। 'जबहीं' 'तबहीं' यों आते हैं। इसी तरह 'सभी' सर्वनाम न आकर 'सबही' 'सबहि' या 'सबै' आता है। इसी प्रकार 'वही' 'यही' ब्रजभाषा में भी आते हैं।

चतुर्थ अध्याय

मूल क्रिया और उसके प्रयोग

सब लोग जानते हैं कि उठना, बैठना, करना, धरना, सोना, जागना, पढ़ना, लिखना आदि क्रियाएँ हैं। क्रियाएँ भाषा में जो प्रयुक्त होती हैं, उनमें से कुछ मूल क्रियाएँ होती हैं और कुछ उनके विकसित रूप। प्रयोग-भेद से क्रिया के रूप में परिवर्तन होता है। इसी को विकास कहते हैं। आगे एक पृथक् अध्याय में हम क्रियाओं के इस 'विकास' का विवेचन करेंगे। इस अध्याय में तो मूल क्रिया रूप समझाना है और विविध कालों तथा पुरुष-वचनों में उसका प्रयोग देखना है। वाच्य-भेद भी बतलाये जायंगे।

क्रिया का मूल रूप

करना, पढ़ना, रहना आदि क्रियाएं हैं, मूल क्रियाएं। ये

उनके सामान्य शब्द-प्रयोग हैं, जिन्हें क्रिया का सामान्य रूप कहते हैं। इनको भाववाचक संज्ञा भी कहते हैं। क्रिया के शुद्ध रूप को 'भाव' कहते हैं, जिसमें काल-पुरुष आदि का सम्पर्क न हो। 'पठन' आदि रूप संस्कृत में कृदन्त (भाव में) प्रत्यय हो कर बने हैं। ब्रजभाषा में क्रिया का सामान्य रूप करिबो, पढ़िबो, बसिबो, या करनो, पढ़नो, रहनो आदि होते हैं—

'आगि लगै ब्रज के बसिबे महँ पानी में आगि लगावैं लुगाई'

और—

'कहनो मेरो इतो सखा सों'

कह, पढ़, बस आदि धातु-रूप हैं। भाववाचक प्रत्यय अलग कर लेने पर जो शब्द क्रिया का बच जाता है, वही 'धातु' है क्रिया का मूल शब्द।

भाषा में मूल क्रिया से, विविध प्रयोगों द्वारा, विशेष क्रियाएं बनती हैं, जिनका उल्लेख अगले अध्याय में होगा। वे सब क्रियाएँ कोई पृथक् सत्ता अपनी नहीं रखतीं, विशेषता अवश्य रखती हैं। सब मूल क्रिया के ही विकसित रूप हैं। प्रयोगों के द्वारा विकास होता है। उन्हें समझने से पहले मूल क्रिया का रूप जान लेना आवश्यक है।

क्रिया के साथ कर्ता का अच्छेद्य सम्बन्ध है। कर्ता के बिना क्रिया नहीं और क्रिया कर्ता से अलग नहीं रह सकती। अन्य कारकों की स्थिति ऐसी नहीं है।

क्रिया करने में जो स्वतन्त्र हो, उसे 'कर्ता' कहते हैं। 'राम

उठता है' राम उठने में स्वतन्त्र है। जो कर्ता के द्वारा निष्पन्न हो, वह क्रिया। उठना, बैठना, पढ़ना, करना आदि मूल क्रियाएँ हैं। प्रेरणा में इनका विकास हो कर उठाना, बैठाना, पढ़ाना, और कराना आदि रूप हो जाते हैं। ये प्रेरणा-रूप क्रिया के विकास हैं। हिन्दी-व्याकरणों में 'बनना 'करना' आदि को भी क्रिया का मूल रूप मान कर 'बनाना' 'काटना-कटाना' आदि इनकी प्रेरणा लिखी गयी है, जो सब गलत-सलत है। 'बनना' मूल क्रिया नहीं है और न कटना आदि। 'टोपियाँ बनती हैं' 'खेत कटते हैं' इत्यादि प्रयोगों में देखिए। टोपियाँ खुद बन नहीं सकतीं. खेत अपने आप कट नहीं सकते। बनाने वाला और काटनेवाला कोई और है। वही 'कर्ता' हैं। जब वे कर्ता लगाये जायँगे, तब 'बनना और 'करना' रूप न रहेंगे, 'बनाना' तथा 'काटना' होंगे। 'राम टोपियाँ बनाता है' 'किसान खेत काटता है' इत्यादि। यों 'राम' तथा 'किसान' आदि कर्ता हैं, जो क्रिया करने में स्वतन्त्र हैं। यदि कर्ता को हम न बोलना चाहें, तो वह सामने नहीं आता और कर्म का ही प्रयोग कर्ता की तरह होता है। हमारा नौकर (राम) टोपियाँ बना रहा है। किसी ने आकर हमसे पूछा—'क्या हो रहा है ?' उत्तर में कहा गया—'टोपियाँ बन रही हैं'। 'राम' का नाम लेने की कोई ज़रूरत नहीं समझी गई। जब वाक्य में. कर्ता नहीं है, तब क्रिया के पुरुष-वचन आदि कैसे हों ? इसके लिए 'कर्म' प्रतिनिधित्व करता है, 'कर्ता' का। कर्ता के अभाव में कर्म के अनुसार क्रिया के पुरुष-वचन

आदि होते हैं। क्रिया कर्म के अधीन होती है। 'टोपियाँ बन रही हैं' यों टोपियों के अनुसार क्रिया स्त्रीलिङ्ग है। 'कपड़े बन रहे हैं' में कपड़े के अनुसार पुल्लिङ्ग। परन्तु टोपियां या कपड़े कभी भी 'बनने' क्रिया के तात्त्विक कर्ता नहीं बन सकते ! 'टोपियाँ बन रही हैं' ऐसा कहने पर भी टोपियाँ हैं कर्म ही। वे बनायी ही जाती हैं, खुद बनती नहीं है। वैसा प्रयोग मात्र है। इसी को 'कर्मकर्तृ' प्रयोग कहते हैं। 'कर्मवाच्य' इसे इस लिए नहीं कह सकते कि 'बनाना' क्रिया का जब 'बनना' रूप रह गया और कर्ता के प्रच्छन्न रहने पर कर्म ही उसका प्रतिनिधि बन गया, तब कर्म रूप से वह नहीं पुकारा जा सकता। उसे तो (अभिनेता के रूप में) थोड़ी देर के लिए 'कर्ता' ही कहा जायगा। तब कर्म अलग न रहने से कर्मवाच्य क्रिया यह न कही गयी, 'कर्मकर्तृ' कहलायी। वैसे देखो, तो कर्मवाच्य है ही और रूप भी वैसा ही है।

सो, 'बनना' आदि क्रिया के 'मूल रूप' नहीं हैं। लोगों ने इन्हें अकर्मक मूल क्रिया समझ लिया है। हाँ, उठना, बैठना, रोना, लजाना आदि अवश्य अकर्मक मूल क्रियाएं हैं। राम उठने, बैठने, रोने और लजाने में स्वतंन्त्र है। वह उठ सकता है, बैठ सकता है, रो सकता है और लजा सकता है। इसलिए उठना, बैठना, रोना और लजाना मूल अकर्मक क्रियाएं हुई। प्रेरणा आदि में इनके रूप कुछ और हो जाते हैं। अकर्मक क्रियाओं के 'कर्मकर्तृ' प्रयोग हो ही नहीं सकते; क्योंकि कर्म यहाँ

है ही नहीं। बनाना, काटना, सीना, धोना आदि सकर्मक मूल क्रियाएं हैं। राम किसी चीज के बनाने, काटने सीने और धोने में स्वतन्त्र है; इस लिए कर्ता।

सो, मूल क्रिया समझने में हिन्दीव्याकरणकारों ने बहुत गलती की है। सकर्मक मूल क्रियाओं के 'कर्मकर्तृ' रूप को मूल क्रिया मान लिया है। आटे को गेहूँ कह दिया! विकास को मूल रूप मान लिया! अकर्मक मूल क्रिया तथा सकर्मक 'कर्मकर्तृ' प्रकरण की भी क्रिया का भेद अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ब्रजभाषा में यही सब क्रियाएँ इन्हीं रूपों में आती हैं।

अब हम काल-भेद से क्रियाओं के प्रयोग बतायेंगे, जिनमें पुरुष तथा वचन भी आ जायँगे।

वर्तमान काल

वर्तमान काल की क्रियाएँ ब्रजभाषा और अवधी में प्रायः एक ही तरह की होती हैं, जो 'खड़ी बोली' से भी बहुत दूर नहीं जातीं। 'खड़ी बोली' में वर्तमान की क्रियाएँ 'करता है' 'फिरता है' इत्यादि होती हैं। ब्रजभाषा डंडे (।) को दूर रखती है। उसकी कटुता दूर कर शेष का जो रूप बच जाता है, ब्रजभाषा ने उसे ही ग्रहण किया है। 'करता है' 'फिरता है' का 'आ' ह्रस्व कर देने से 'करत है' 'फिरत है' इत्यादि रूप रह जाते हैं। 'ठुमुकि चलत रामचन्द, बाजति पैंजनियाँ' यही ब्रजभाषा के वर्तमानकाल की क्रियाएँ हैं। 'अवधी' में भी

प्राय: ऐसी ही क्रियाएँ होती है और 'बैसवारी' में भी। स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र का—

'करत-धरत कुछु बनतै नाहीं, कहाँ जानु औ कैस करन' बहुत प्रसिद्ध है। इसे यों व्रजभाषा-रूप दे सकते है—

'करत धरत मोपै न बनै कछु जैये कहाँ कहा कछु करिये' इस प्रकार 'करत धरत' उभयत्र समान है। परन्तु कहा जा सकता है कि यहाँ 'करत-धरत' मुख्य क्रिया नहीं, क्रियार्थक (संयुक्त) क्रिया है। तब यह शुद्ध वर्तमान काल की क्रिया लीजिए—

करत राम भोजन पितु सगा (अवधी)
करत राम भोजन पितु के सँग (व्रजभाषा)

खड़ी बोली के बहुवचन मे 'आ' का 'ए' हो जाता है और 'है' के ऊपर अनुस्वार लग जाता है—'राम भोजन करते हैं।' व्रजभाषा में भी 'है' के साथ वर्तमान काल की क्रिया आती है और बहुवचन में 'है' सानुस्वार या सानुनासिक होती है, परन्तु 'अ' वैसे ही रहता है, 'ए' नहीं बनता—'राम भोजन करत हैं' वस्तुत: यहाँ अनुनासिक (ँ) होता है, वही श्रुत है परन्तु अनुस्वारभी दे देते हैं; इसलिए कि दीर्घ स्वर पर अनुस्वार श्रुत होता ही नहीं; अनुनासिक ही श्रुत होता है। अत: अनुस्वार से भी काम चल जाता है।

'खड़ी बोली' और 'अवधी' की तरह व्रजभाषा में भी वर्तमान काल की क्रियाएँ कर्तृवाच्य ही होती हैं; चाहे वे अकर्मक

हों, चाहे सकर्मक। 'राम उठता है' और 'राम उठत है'। 'बालक पढ़ते हैं' और 'बालक पढ़त हैं'। एक वचन में पुल्लिंग कर्ता (राम) के साथ क्रिया भी एक वचन पुल्लिङ्ग—उठता है, उठत है। बहुवचन कर्ता के साथ क्रिया भी बहुवचन –पढ़ते हैं, पढ़त हैं। कर्म स्त्रीलिङ्ग दे दें, तो भी क्रिया पुल्लिङ्ग ही रहेगी –'राम पुस्तक पढ़ता है'। व्रजभाषा में—'राम पढ़त पुस्तक अति नीके'। कर्ता स्त्रीलिङ्ग करदें, तो क्रिया भी स्त्रीलिङ्ग हो जायगी—'आवति है इक सखी सयानी'। सकर्मक क्रिया में भी 'देखति स्यामहिं तू सखि सौहैं, मैं कछु सोचति जी मैं'। 'सखी' कर्ता है, स्त्रीलिङ्ग, जिसका 'तू' से निर्देश है। इस लिए क्रिया 'देखति' स्त्रीलिङ्ग है, कर्म (स्याम) पुल्लिङ्ग होने पर भी। इसी प्रकार वर्तमान काल में सर्वत्र कर्ता के अनुसार क्रिया के पुरुष, वचन, लिङ्ग रहेंगे। उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हुआ कि स्त्रीलिङ्ग क्रियाएँ भी 'खड़ी बोली' के समान ही व्रजभाषा में होती हैं; अन्तर केवल इतना कि 'खड़ी' में 'ई' लगती है, व्रजभाषा में उसका हलका मधुर रूप 'इ' काम आता है। 'जाति है' व्रजभाषा और 'जाती है' 'खड़ी बोली'। कितना अन्तर है? कभी-कभी व्रजभाषा में भी 'ई लग जाती है—'गावती हैं सब राग मल्हार, झुलावत स्याम हिंडोरैं निकुञ्ज मैं'। परन्तु अधिक प्रयोग 'इ' के ही साथ होते हैं।

यह कहा गया कि सकर्मक-अकर्मक सभी तरह की वर्तमान काल की क्रियाएँ कर्ता के अधीन या कर्तृवाच्य होती हैं। इन्हें

तीनों पुरुषों में देखिए—

प्रथम पुरुष एक वचन	बहुवचन
स्याम उठत तब जननि-अंक ते	बालक उठत उछरि सरवर तें
गावति गीत राधा आजु	गावतीं गीत विमोहन कंठ सों

मध्यम पुरुष एक वचन	बहुवचन
उठत है तू देर करि कै	उठत हौ तुम देर करि कै
गावति है मधुरे सुर मैं तू	गावति हौ तुम गीतमधुर सुर

उत्तम पुरुष	
उठत हौं नित प्रात ही	उठत हैं नित प्रात ही हम
(उठति हौं)	(उठति हैं)

उदाहरणों से यह भी मालूम हुआ कि वर्तमान काल में क्रिया के आगे 'है' का प्रयोग कभी होता है, कभी नहीं; जब कि 'खड़ी बोली' में सदा ही आवश्यक है।

ब्रजभाषा में वर्तमान काल की क्रियाएँ एक और तरह से भी बनती हैं—

	एक वचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	करै	करैं
मध्यम पुरुष	करु	करौ
उत्तम पुरुष	करौं (करूँ)	करैं

देखिए वाक्य में—

'सब ते चोखे जगत में साधू और बिजार।
खुले चरैं, पूजा लहैं, सरस सुछन्द बिहार।' (तरङ्गिणी)

'चरैं' 'चरत हैं', और 'लहैं' 'लहत हैं'। 'साधू' से मतलब उन निहंगों और महन्तों से है, जो देश के भार समझे जाते हैं। और लीजिए—

'छवि भूरि अनङ्ग की दूर धरैं'
'किलकैं कल बाल-विनोद करैं'
'कबहूं प्रतिबिम्ब निहारि डरैं'
मातु सबै मन मोद भरैं'
पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं'

इसी प्रकार अन्य पुरुषों और वचनों में उदाहरण समझिए। इस प्रकार की क्रिया में स्त्रीलिङ्ग-रूप भी समान ही होता है, कोई भेद नहीं होता। क्योंकि 'करहि' 'करइ' 'करै' आदि तिङन्त क्रियाएँ हैं; 'करत' आदि की तरह कृदन्त नहीं। 'जननी रारि करै' और 'जनक हू रारि करै'। तीनों पुरुषों में और वचनों में कुछ अन्तर है; पर पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में कोई रूप-भेद नहीं है। वैसे 'जननी प्रेम करैं' इत्यादि में 'करैं' क्रिया स्त्रीलिङ्ग समझी जायगी, क्योंकि वह कर्ता (जननी) के अधीन है। इसप्रकार की क्रियाएँ भी कर्तृवाच्य ही हैं। 'बातें स्याम करैं' में क्रिया एक वचन है, कर्ता (स्याम) के अनुसार; यद्यपि कर्म (बातैं) बहुवचन है। सो, कर्तृ-वाच्य क्रिया हुई।

'होना' क्रिया के भी इसी प्रकार के रूप होते हैं; पर सूरदास जी ने और तरह से भी प्रयोग किया है—'करहिं जप-तप नेम-व्रत सब' इत्यादि। इसका मतलब यह निकला कि 'हिं' विभक्ति लग

कर भी वर्तमान काल की क्रियाएँ बनती हैं। '

'होना' क्रिया के वर्तमान काल में रूप साधारणतः इस प्रकार होते हैं—

प्रथम पु०—एक वचन द्विवचन

है, होत है, हैं होत हैं,

मध्यम पु०— है, होत है हौ, होत हौ

उत्तम पु०—हौं होत हौं, हैं, होत हैं

'है' के लिए 'अहै' और 'है' के लिए अहै' भी आता है। 'रहत है' आदि 'रहतु है' आदि रूपसे भी आते हैं—'जीबेकी न लालसा दयालु महादेव मोहिं मालुम है तोहि मरिबेईकौं रहतु हौं

विचार करके देखा जाय, तो सूरदास का 'हम नहोहिं वै बेली' विशेष महत्त्व रखता है। प्रत्येक क्रिया में 'होना' क्रिया विद्यमान है। इसीलिए हिन्दी में सबके साथ 'होना' क्रिया लगी रहती है—पढ़ता है, खाता है, इत्यादि। व्रजभाषा में 'हैं' का मधुर रूप 'हिं' भी लिया गया है—'हम न होहिं-वै बेली, मे ही नहीं, 'करहिं नित नूतन साज-सिंगार' आदि में भी। 'होहि' में, ('होना' क्रिया में,) हिं' का लगना तो ऐसे ही है, जैसे 'स्कृत में 'द्वि' संख्यावाचक शब्द के आगे द्विवचन 'औ' विभक्ति लग कर 'द्वौ' बनना। यही नहीं, 'करै' और 'करैं' आदि में यही हिं' है। 'ह' का लोप होकर 'इ' रह गयी। एक वचन में निरनुनासिक 'है' खड़ी बोली में रहता है और वहुवचन में सानुनासिक 'हैं' 'करता है' और 'करते

हैं'। इन्हीं के संक्षिप्त रूप निरनुनासिक तथा सानुनासिक 'हि' और 'हिं' हैं; जो ब्रजभाषा की (वर्तमान काल की) एक वचन और बहुवचन क्रियाओं में लगते हैं –'मुनि करहि जाग' और 'करहिं सब प्रभु—ध्यान'। इन्हीं के रूपान्तर निरनुनासिक और सानुनासिक 'करै' तथा 'करैं' हैं, एक वचन और बहुवचन में। 'जायँ वन में राम लखो वे' यहाँ 'जायँ' वर्तमान काल की ही बहुवचन क्रिया है, और 'जाहिं' का ही परिवर्तित रूप है। 'हिं' के 'ह' का लोप हो गया और 'इं' को अनुनासिक 'य' हो गया—'जायँ'। य और व सानुनासिक-निरनुनासिक दो तरह के होते हैं। सानुनासिक वर्ण को सानुनासिक ही 'यँ' और 'वँ' होता है—'ग्राम' का 'गाँवँ'। 'र्' उड़ गया और 'म' को 'वँ' हो गया। संस्कृत में भी 'म' को 'वँ' होता है। निरनुनासिक वर्ण को य् या व् निरनुनासिक ही होता है। 'जाहि' का रूप 'जाय' होगा –'जाय मग में सुन्दर खग'। 'हि' के 'ह' का लोप और 'इ' को 'य'। ऐसे प्रयोग अवधी में और ब्रजभाषा में दोनों जगह होते हैं।

'जाहि आजु बन राम' आज राम, बन चला जाय। यहाँ 'जाय' आज्ञा है, वर्तमानकाल 'जाता है' नहीं। इस लिए 'है' का संक्षिप्त रूप जो हि' है, उससे यह नहीं बना है। वह (है) तो वर्तमान काल में ही आता है, आज्ञा में नहीं। फिर यह 'जाय' कैसे ? बात यह है कि संस्कृत में 'गच्छेत्' आदि क्रियाओं का प्रयोग विधि और आज्ञा आदि में होता है। वहीं से

पढ़े, करे, आदि 'इ' प्रत्यय के साथ आये हैं। 'जाय' में 'इ' को य' हो गया है।

इस प्रकार 'जाय मग में इक बालक' और 'जाइ मग में इक बालक' तथा 'जाहि मग मे इक बालक' एक 'हि' के सहारे हैं। और 'जाय अबहीं वह वन को' या 'जाइ अबहीं सो वन को' दूसरी चीज हैं, विधि या आज्ञा। यहाँ 'है' का 'हि' नहीं है। 'जाहि राम वन आजु' ऐसे प्रयोग होते हैं। आज्ञा में संस्कृत विभक्ति 'सि' को 'हि' कहीं-कहीं होता है—'जानीहि'। यही 'हि' हिन्दी में ऐसे आदेशात्मक स्थान में समझें। संस्कृत में मध्यम पुरुष के एक वचन में ही 'हि' लगती है, जो हिन्दी में प्रथम पुरुष में भी। यही अन्तर है। 'जाहि राम वन आजु' 'जाहि किन तू अब आजु इहां ते'। परन्तु इस प्रकार 'हि' से प्रयुक्त आदेशात्मक क्रियाएँ अवधी में ही अधिक चालू हैं। 'जाय चलो" और 'जायँ चले' संयुक्त क्रियाओं में 'जाइ चलो' और 'जाइं चले' के रूप हैं। संयुक्त क्रिया में मुख्य क्रिया प्रायः इकारान्त ब्रज,-भाषा में रहती है, यह उसी प्रकरण में बतलाया जायगा। सो यहाँ का 'इ' और 'य' पृथक् चीज हैं।

तब कर' और 'इ' मिल कर 'करे' और 'करै' हो गया। बहुवचन में अनुस्वार रहता ही है, बहुत्व सूचित करने के लिए 'करैं'। संस्कृत में भी एकवचन निरनुनासिक और बहुवचन सानुनासिक होता है—पठति और पठन्ति।

उत्तम पुरुष के एकवचन में 'करौं नित मैं तेरी मनुहार' में

'करौं' वर्तमान काल ही है। यहाँ 'हौं' की याद दिलाने के लिए, उत्तमपुरुष का एकवचन प्रकट करने के लिए 'करौं' रूप हो गया है। ब्रजभाषा में 'हौं' उत्तमपुरुष, एकवचन (वर्तमानकाल की) क्रिया भी है और इसी का प्रतिरूपक उत्तमपुरुष एकवचन में प्रयुक्त होने वाला अव्यय भी 'हौं' है। संस्कृत में भी 'अस्मि' क्रिया का प्रतिरूपक अव्यय 'अस्मि' है, जो 'अहम्' के अर्थ में आता है—'त्वामस्मि वच्मि'। इसी तरह ब्रजभाषा में 'हौं' अव्यय है। इसी को अन्तर्भुक्त करके 'करौं' आदि क्रियाएँ हैं और इसी लिए 'करौं' जैसी क्रियाओं के साथ कर्ता का प्रयोग देने की जरूरत नहीं रहती। 'करौं' 'धरौं' आदि के उच्चारण से ही पुरुष-वचन ज्ञात हो जाते हैं। कोई अन्य पुरुष इसके साथ लग ही नहीं सकता; जमा हुआ 'हौं' दूर से ही आँख दिखा देता है। 'करै' आदि के साथ कर्ता का प्रयोग आवश्यक है; क्योंकि उसका बहुत विस्तार है, अनन्त।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हुआ कि कर्म तथा सम्प्रदान आदि कारकों में जो 'हिं' विभक्ति लगती है, उससे यह 'हिं' बिलकुल पृथक् चीज है, जो उपर्युक्त रीति से क्रियाओं में लगती है। वह केवल विभक्ति है और यह 'होना' क्रिया 'है' का संक्षिप्त रूप है, जिसका प्रयोग विभक्ति की तरह होने लगा है।

'करौं' में 'मैं' या 'हौं' कारक (कर्ता) लगाने की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है; परन्तु लगाते भी हैं—'हौं तौ धेनु चरावौं तेरी, तू न पत्यावै मोहि'।

सो, 'करता है' का 'है' 'करै' में है और 'हैं' बहुवचन 'करैं' में। एक ही परिवार दूर-दूर तक फैला है, तब बहुत सी बातें रली- मिली होंगी ही।

सस्कृत में द्विवचन भी होता है। संसार में अधिकांश चीजें जोड़े में हैं—आँखें, हाथ, पाँव आकाश-पाताल, जड़—चेतन, सुख-दु:ख आदि। इनका प्रकटी-करण द्विवचन में खूब फबता है। परन्तु हमारी हिन्दी में द्विवचन नहीं है। चलो, एक झंझट गयी; नहीं तो अहिन्दी-भाषी भाई एक माँग यह भी कर बैठते कि द्विवचन का बखेड़ा हटाओ।

हम ने कहा कि वर्तमान काल की क्रियाएँ ब्रजभाषा में (और खड़ी बोली में भी) कर्तृवाच्य ही होती हैं। इन्हें दूसरे किसी वाच्य में नहीं किया जा सकता। फलत: वाच्य-परिवर्तन कराना गलती है। राम लजात हैं'। इस को कर्तृवाच्य से बदल कर यदि यों भाव-वाच्य कर दिया जाय—'राम सों लजायो जात है, तो गलत होगा। 'राम सों लजायो जात है' प्रयोग ही नहीं होता। इसी प्रकार 'राम लजाता है' इसका 'राम से लजाया जाता है' ऐसा वाच्य—परिवर्तन करना कराना मूर्खता है। इसी प्रकार 'मुझ से उठा जाता है' इत्यादि- गलत है। सकर्मक क्रियाएँ भी वर्तमान काल की कर्तृवाच्य ही रहती हैं। उनको कर्म वाच्य में बदलना गलती है। 'राम फल खाता है' इसे 'राम के द्वारा फल खाये जाते हैं' ऐसा कर्म वाच्य नहीं कर सकते। प्रयोग ही नहीं होता। इसी प्रकार

ब्रजभाषा में भी वर्तमान काल की क्रियाएँ सदा कर्ता के अनुसार रहती हैं। 'राम पढ़त निज वेद' इसे 'राम सों निज वेद पढ्यो जातु है'। ऐसा करना गलती है।

हाँ, शक्ति-निषेध आदि में वर्तमान काल की क्रिया भाववाच्य तथा कर्म-वाच्य में होती है, खड़ी बोली में भी और ब्रजभाषा में भी; जैसे—

अकर्मक (भाववाच्य) मोपै आजु उठ्यो नहिं जात।

सकर्मक (कर्मवाच्य) मोपै साँस लई नहिं जाति।

कर्ता शक्तिहीन है, शायद इसी लिए उसकी प्रधानता छिन गयी है!

मोपै उठ्यो नहिं जात।

तोपै उठ्यो नहिं जात।

तुम पै उठ्यो नहिं जात।

हम पै उठ्यो नहि जात।

सखी पै उठ्यो नहिं जात।

काहू पै उठ्यो नहिं जात।

सबनि पै उठ्यो नहिं जात।

इत्यादि कुछ भी और कैसा भी परिवर्तन कर्ता में कर दें, क्रिया ज्यों की त्यों अन्य पुरुष, पुल्लिग, एक वचन रहेगी—'उठ्यो जात'। उस में कुछ भी परिवर्तन न होगा।

सकर्मक क्रिया शक्ति-निषेध में (वर्तमान काल की) कर्म वाच्य में आयेगी—

राम पै साँस लई न जाति।

मो पै फल लीने नहिं जात।

सखी पै काज कियो नहिं जात।

प्रथम उदाहरण में कर्ता (राम) पुल्लिग है; पर क्रिया स्त्री लिंग है—'लई'। कारण यह कि कर्म (साँस) स्त्रीलिंग है। दूसरे उदाहरण में कर्ता एक वचन होने पर भी क्रिया बहुवचन है, कर्म के अनुसार। तीसरे उदारण में कर्ता स्त्री लिंग है, (सखी) पर क्रिया पुल्लिग है, कर्म (काज) के अनुसार।

हिन्दी मे वर्तमान काल की क्रियाएँ शक्ति-निषेध में कर्तृवाच्य न होकर भाववाच्य तथा कर्मवाच्य होती हैं। इन का भी वाच्य-परिवर्तन नहीं हो सकता। इन्हें कर्तृवाच्य में नहीं बदल सकते। भाषा का ऐसा ही प्रवाह है।

हाँ, ब्रजभाषा में कुछ क्रियाओं के स्वतन्त्र भाववाच्य प्रयोग भी होते हैं—कहियत, सुनियत आदि। 'कहियत कान्ह चुरावत माखन' और 'मदनगोपाल मधुपुरी हू तजि सुनियत अनत सिधारे'। 'कहियत'—सुनियत आदि क्रियाएँ सदा इसी रूप में रहेंगी।

उदाहरण में देखा कि 'है' कभी क्रिया के साथ रहती है, कभी नहीं।

'तुम तौ करत दूध-दधि चोरी' 'हम नित ही अनखात' 'जब तुम कहत सौंह करि करि कै' 'तू तौ अपनी ठानति' इत्यादि।

इस प्रकार की बहुत सी ऐसी बातें है, जिन का ज्ञान साहित्य-अनुशीलन चाहता है।

भविष्यत् काल

वर्तमान काल की तरह भविष्यत् काल में भी व्रजभाषा की क्रियाएँ कर्तृवाच्य होती हैं, कर्ता के अनुसार चलती हैं। 'खड़ी बोली' में भी ऐसा ही है-'लड़का जायगा, लड़की जायगी'। 'लड़की फल खायगी' और 'लड़का रोटी खायगा' इत्यादि। व्रजभाषा में भी भविष्यत् काल की सूचक 'गा' विभक्ति ही दूसरे रूप में है। वह एक वचन पुल्लिग में 'गो' है और बहुवचन में 'गे' तथा स्त्रीलिंग में 'गी'। स्पष्ट है कि केवल 'आ' व्रज-भाषा ने नहीं लिया है, उस की जगह 'ओ' है। बाकी 'गे' तथा 'गी' खड़ी बोली' के ही समान हैं।

'राम करै गो काम सवेरे। व्रजभाषा)

राम करेगा काम सवेरे (खड़ी बोली)

और अकर्मक—

राम उठैगे आजु सवेरे (व्रजभाषा)।

राम उठेगा आज सवेरे (खड़ी बोली)

बहुवचन में।

वै तौ करैं गे सवै मन की (व्रजभाषा)

वे तो करें गे सभी मन की (खड़ी बोली)।

स्त्रीलिंग में—

जननी सो सब बातैं करै गी (व्रजभाषा)

जननी वे सब बातें करेगी (खड़ी बोली)

यों हिन्दी की इन दोनों बोलियों में भविष्यत् काल की क्रियाएँ एक ही समान हैं, साधारण सा अन्तर है। यहाँ भी वर्तमान काल की तरह क्रियाएँ कर्तृवाच्य हैं, कर्ता के अनुसार अपनी स्थिति- प्रवृत्ति रखती हैं। पुरुष 'उठैगो' और स्त्री 'उठैगी'। बहुत हों, तो 'उठैंगे'। सकर्मक में कर्म रहने पर भी क्रिया उस की ओर न देख कर कर्ता के पीछे चलती है—'जननी वे फल खायगी'। सूरदास के पद्यों मे—

'हौं तेरे ही सग जरौं गी, यह कहि त्रिया धूति घन खायो'
'मैं निज प्रान तजौंगो सुनु कपि तजिहैं जानकि सुनि कैं'

'पिय को प्रेम तेरे प्रान हरैगो'

स्त्रीलिङ्ग रूप तुलसीदास जी के पद्यों में देखिए—

'बकी बक-भगिनी काहू तें कहा डरैगी
'बाहु-पीर महाबीर तेरे मारे मरैगी।'

और भी—

'हौं तो मुगलानी पै हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं'

इस 'गो' के साथ-साथ एक और विभक्ति भी भविष्यत्काल में आती है—'इहै' रूप में। 'करिहै' 'परिहै' आदि इसके रूप हैं, जो स्त्रीलिङ्ग-पुलिङ्ग में समान रहते हैं। केवल पुरुष-वचन कर्ता के अनुसार बदलते हैं। 'जननी करिहै' 'जनक करिहैं' 'तू करिहै' 'मैं करिहौं' हम करिहैं इत्यादि। सूरदास ने इस प्रकार के रूप भविष्यत् काल में खूब प्रयोग किये हैं—

'तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं'

'सीत घाम घन बिपति बहुत बिधि'

भार तरे मरि जैहो'

'सदा नाम तुव जपिहौं'

यही नहीं, एक ही जगह दोनों तरह के रूप दिये हैं—

'मैं निज प्रान तजौं गो सुनु कपि'

तजिहैं जानकि सुनि कैं'

तुलसीदास जी ने भी 'इहै' का प्रयोग किया है, विभिन्न पुरुषवचन आदि में। उत्तमपुरुष (पुलिङ्ग) एकवचन में देखिए—

'एहि घाट ते थारिक दूरि अहै,

कटि लौं जल-थाह देखाइहौं जू।

तुलसी अवलम्ब न और कछू,

लरिका केहि भांति जियाइहौं जू।'

इसी प्रकार 'बाद न बढ़ाइहौं' 'नाव न चढ़ाइहौं' आदि हैं। ये भी कर्तृवाच्य रूप हैं—जैसे 'जैहै बालक' और 'जैहैं बालक'। 'जैहै जननी, और 'जैहैं करवालैं समर भूमि क्रूर ह्वै'। कर्ता के अनुसार क्रिया के वचन आदि हैं। पुरुष भी—'मैं जैहौं' 'तू जैहै' 'तुम जैहौ' इत्यादि। इनका भी वाच्य-परिवर्तन नहीं हो सकता। अकर्मक किया को भी परिवर्तित कर के भाव वाच्य में नहीं कर सकते। 'मैं मरिहौं' को 'मोपै मरो जैहै' या 'मो सों मरो जाइगो' न होगा। ऐसे प्रयोग भाषा को ग्राह्य नहीं हैं। हाँ शक्ति-निषेध में अवश्य वाच्य-परिवर्तन होगा—

अकर्मक—

राम पै नेकु उठ्यो नहिं जैहै
सीता पै नेकु उठ्यो नहिं जैहै
मोपै नेकु उठ्यो नहिं जैहै
तो पै नेकु उठ्यो नहिं जैहै
हम पै नेकु उठ्यो नहिं जैहै
उन पै नेकु उठ्यो नहिं जैहै

सर्वत्र, अन्य पुरुष, पुल्लिङ्ग,एक वचन क्रिया है; कर्ता चाहे जैसा भी हो। यों भाववाच्य क्रिया हुई।

सकर्मक का कर्मवाच्य मे—

राम पै भूख सही नहिं जैहै
राम पै काज किये नहिं जैहैं
उन सो यह बात सुनी नहिं जैहै

इत्यादि। सर्वत्र कर्म के अनुसार क्रिया के पुरुष-वचन हैं। पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग में कोई अन्तर नहीं होता, यह कहा जा चुका।

अब विभिन्न पुरुषों में इनके रूप देख लीजिए—

प्रथम पुरुष—

एक वचन	बहु वचन
करै गो	करैंगे
(स्त्री० करै गी)	(करैं गी)
करिहै	करिहैं

मध्यम पुरुष—

एक वचन	बहुवचन
करै गो	करौगे
(करिहै)	(करिहौ)
(स्त्री० करै गी)	(करौ गी)

उत्तम पुरुष

एक वचन	बहुवचन
करौं गो,	करैं गे
(करौंगी, करूँ गी)	(करैं गी)
करिहौं	करिहैं

भूतकाल

वर्तमान काल के साथ भविष्यत् का उल्लेख पीछे किया गया; क्योंकि हिन्दी में इन दोनों कालों की क्रियाएँ कर्तृवाच्य होती हैं। भूतकाल इनसे भिन्न है। यहाँ सकर्मक क्रियाएँ प्रायः कर्म-वाच्य या भाववाच्य ही होती हैं। ये कर्तृ-वाच्य में बदली नहीं जा सकतीं, वाच्य-परिवर्तन हो नहीं सकता। इसीलिए इसका उल्लेख बाद में अलग किया जा रहा है। अकर्मक क्रियाएँ यहां भी कर्तृवाच्य होती है।

'खड़ी बोली' में भूतकाल की क्रिया में आ विभक्ति लगी रहती है, जो बहुवचन में 'ए' तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ई' हो जाती है। राम आया, बालक आये, स्त्री आयी। ब्रजभाषा को 'आ से कुछ चिढ़-सी है। इसीलिए यहाँ उसकी जगह 'ओ' विभक्ति

आती है— राम आयो, मोहन गयो, इत्यादि। बहुवचन में खड़ी बोली, और ब्रजभाषा के रूपों में कोई अन्तर नहीं। 'सीता गईं' खड़ी बोली की तरह ब्रजभाषा में भी है। 'बालक आये' भी उभयत्र समान है। वचन-पुरुष आदि में भी समानता है, 'आ' और 'ओ' का भेद तो रहे गा ही।

ब्रजभाषा	खड़ी बोली
मैं आयो	मैं आया
हम आये	हम आये
तू आयो	तू आया
तुम आये	तुम आये
मा आई	मा आई

सब जगह क्रिया कर्ता के अनुसार है; लिंग, पुरुष और वचन में। कारण, वह अकर्मक है। इसी तरह सोना, उठना, रोना, बजाना आदि क्रियाएँ भूतकाल में भी कर्तृवाच्य होती हैं।

सकर्मक क्रियाएं यहाँ कर्मवाच्य या भाववाच्य ही प्रायः होती हैं। 'प्रायः' इस लिए कि कुछ अपवाद भी हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ भी खड़ी बोली और ब्रजभाषा में समानता है—

ब्रजभाषा	खड़ी बोली
राम ने देखी वो मुसकानि	राम ने वह मुसकान देखी
सखी ने देखि लियो मो कौं	सखी ने मुझे देख लिया
मैं ने सब कारे अजमाये	मैंने सब काले अजमाये

करे सब तूने काज खरे तूने सब अच्छे काम किये

राम ने मानी हार सुधा सों राम ने सुधा से हार मानी

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सकर्मक क्रियाएं हिन्दी में भूतकाल में) कर्मवाच्य या भाववाच्य होती हैं और ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के प्रयोगों में बहुत अन्तर नहीं है।

इसके अनुसार 'हरि हँसि पीठि दई' होता है और 'हरि' बिना विभक्ति के भी आ सकता है। परन्तु सूरदास ने—

'हरि हँसि दीनी पीठ'

ऐसे भी भूतकाल में प्रयोग बहुत किये हैं। 'अवधी' में ऐसी क्रियाएँ भाववाच्य में प्रायः प्रयुक्त होती हैं—

'दीन्ह पग अवनि कठोरा'

की तरह—

दीन्ह असीस लाइ उर लीनी

भी है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु सूरदास जी ने 'दीन्ह' को ब्रजभाषा के साँचे में ढाल लिया और 'हँसि दीनी पीठ' मधुर कर्मवाच्य प्रयोग किया है। सुन्दर ब्रजभाषा-रूप हो गया। 'दीन्ही' के 'ह' की कठोरता भी 'दीनी' में नहीं रही है। परन्तु ह-युक्त प्रयोग भी ब्रजभाषा में हैं, खास सूरदास के पदों में भी। उन्होंने 'लीन्हीं' का प्रयोग भी किया है; पर 'चीन्ही' के साथ। 'चीन्ही' के साथ 'लीनी' का तुक न मिलता और 'चीन्ही' को 'चीनी' बना देने से भाषा बिगड़ जाती। अवधी आदि के शब्द-सादृश्य को सूर जैसे

महाकवि हेय भी नहीं समझते थे। इसीलिए वैसे प्रयोग हैं। संस्कृत में भी एक-एक शब्द कई-कई रूपों में प्रयुक्त होता है। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी क्रिया व्रजभाषा की अपनी चीज ही है; क्योंकि व्रज में 'तुमने ऐसी कृपा कीनी' इत्यादि बोलते भी हैं। 'कीनी' और 'करी' दोनों चालू हैं।

सूरदास के और भी प्रयोग भूतकाल में देखिए—

'रथ ते उतरि चक्र कर गहि प्रभु
सुभटहिं सनमुख आये,
'मधुप तुम कहो कहाँ ते आये हो'

'जो व्रज मे आनँद होतो, सो मुनि-मनसहु न गहे'

'होतो' यानी होता था। 'होता' का 'होतो' हो गया है। परन्तु ऐसे प्रयोग कम आते हैं। 'होतो' कुछ अटपटा सा लगता है। इसीलिए 'ओ' प्रायः उड़ जाता है—'होत रहत आनँद नित नूतन'।

तुलसी ने भी व्रजभाषा-पद्यों में—

'तुलसी तिन तौ मन फेरि न पाये'

'बिधुबैनी समेत सुभाय सिधाये'

इत्यादि भूतकाल में खड़ी बोली की ही तरह प्रयोग किये हैं।

'गावत' 'धावत' आदि जो क्रियाएँ 'व' से युक्त हैं, उनके 'व्' का (भूतकाल में 'य' प्रत्यय परे रहने पर) लोप हो जाता है, जैसे—गायो, धायो इत्यादि। एक प्रासंगिक बात यह कि जैसे अवर्ण स्वर-विभक्ति परे होने पर य् का वैकल्पिक या आत्य-

न्तिक लोप होता है, उसी तरह 'व्' का भी होता है, यदि उसके सवर्ण स्वर ('उ' या 'ओ') परे हों, विभक्ति-स्वरूप। ब्रजभाषा में भविष्यत् काल की स्त्रीलिंग क्रियाएँ—'करौंगी' भी होती हैं और 'करूँगी' भी। परन्तु 'करूँगी' गाऊँगी' इत्यादि रूपों में अधिक स्वारस्य है। स्त्री-सुलभ कोमलता 'औं' की धौंकनी से जल जाती है।

इसी लिए मीरा ने 'गोबिंद के गुन गाऊँगी' कहा है। 'गावति' का भविष्यत् काल में भी 'गाऊँगी' होता है और दृढ़ निश्चय प्रकट करने में भी यही रूप होता है। 'गावति' के 'व' का लोप हो जाता है, परे 'ऊ' विभक्ति होने पर—गाऊँगी। 'गावूँगी' नहीं होता है।

प्रार्थना आदि में भी ऐसी क्रियाओं के व् का लोप हो जाता है, सवर्ण स्वर-विभक्ति परे हो, तो। 'नाथ दिवार की राह न खाओ' और 'कछु तौ राम के गुन गाओं' आदि में देखिए।

अब विभिन्न पुरुषों में भूतकाल के रूप देखिए—

प्रथम पुरुष	एक वचन	बहुवचन
	सोयो राम नीके आजु	सोये सबै नीके आजु
	लियो एक फल कौ नाम,	लिये सब राम ने निज नाम
	गई बन जानकी पियसंग	गईं मिलि कै सब गोपकुमारी
(स्त्री० स०)	लई सुधि वाने हमारी भली,	लईं सब तोरि तरोई लली ने'
मध्यम पुरुष		
	तू तौ बहुत लजायो	स्याम, तुम बहुतै आजु लजाये

तूने लिये सब फल बीनि — तुमने लियो सो फल छाँटि
तू क्यों गई — ह्वै गईं तुम यों बिहाल
तूने पकरयो स्यामहिं — तुमने पकरयो स्याम मुरारि

उत्तम पुरुष

मैं उठयो अकुलाइ — हम उठे अकुलाइ
मैंने कियो काम विचारि — हमने कियो काम विचारि
मैं तौ तब अकुलाई — हम तौ तब अकुलाई
मैने पकरयो स्यामहिं — हमने पकरयो स्यामहिं

इन उदाहरणों से कई बातें सामने आ जाती हैं। गयीं लिये लजाये के रूप दूसरी तरह के भी हो सकते हैं। य् का लोप वैकल्पिक है न ? दूसरी बात यह कि 'जाना' और 'आना' क्रियाएँ सकर्मक हैं, तो भी इनके रूप भूतकाल में भी, कर्म के अनुसार न रह कर कर्ता के अनुसार रहते हैं, कर्तृवाच्य होते हैं। अन्य सब सकर्मक क्रियाएँ कर्मवाच्य होती हैं। 'राधा गई जमुना कूल' यहाँ 'कूल' कर्म पुल्लिङ्ग है; पर क्रिया स्त्रीलिङ्ग (कर्ता राधा) के अनुसार है। इसी तरह 'हंस उड़ि दमयन्ती पै आयो' यहाँ 'आना' क्रिया का कर्म 'दमयन्ती' है; पर क्रिया पुल्लिङ्ग है, कर्ता (हंस) की अनुगामिनी।

दूसरी बात समझने की यह है कि लियो, दियो, कियो, को, लीनो, दीनो, और कीनो भी बोलते हैं; और स्त्रीलिङ्ग में लीनी, कीनी, दीनी रूप भी होते हैं। 'दई' 'लई' आदि भी।

अच्छा, तो कारण क्या है कि भूतकाल की अकर्मक क्रियाएँ

कर्तृवाच्य और सकर्मक कर्मवाच्य तथा भाववाच्य होती हैं। सकर्मकों में भी 'जाना-आना' अर्थ रखनेवाली क्यों कर्मवाच्य या भाववाच्य नहीं होती, जब कि कर्म के साथ ही प्रयुक्त होती हैं? 'राधा जमुना-कूल गई' क्यों होता है. 'गयो' क्यों नहीं, 'कूल' के अनुमार। वर्तमान और भविष्यत् काल में तो सभी क्रियाएँ कर्तृवाच्य होती हैं, तब भूतकाल में यह तिराहा क्यों?

वैसा प्रवाह जाने में कारण है। भूतकाल में कृदन्त (संस्कृत में क्त-प्रत्ययान्त) का अनुगमन है। यह 'क्त' प्रत्यय 'कर्मणि' होता है. कर्मवाच्य—'रामेण पुस्तकं पठितम्', और 'संहिता पठिता'। इसी प्रकार 'सीतया रामः दृष्टः' और 'रामेण सीता दृष्टा'। हिन्दी में 'ने' विभक्ति भी 'बालकेन' 'रामेण' आदि की याद दिलाती है। हिन्दी में भी भूतकाल की क्रियाएँ संस्कृत की कृदन्त क्रियाओं के आधार पर हैं, और इसीलिए कर्म के अनुसार—'राम ने पुस्तकें पढ़ीं, संहिता पढ़ी'। 'सीता ने फल देखा' और 'राम ने लता देखी' इत्यादि कर्म-वाच्य प्रयोग सकर्मक क्रियाओं के होते हैं।

परन्तु गमनार्थक (गम्, या, आदि) धातुओं से संस्कृत में 'क्त' प्रत्यय 'कर्तरि' होता है, कर्तृवाच्य; यद्यपि ये धातुएँ भी सकर्मक हैं। प्रयोग हैं—'रामः नगरीं गतः' 'रमा ग्रामं गता' 'सुन्दरी गृहमागता' इत्यादि। यहाँ 'नगरी' 'ग्राम' तथा 'गृह' कर्म हैं; पर क्रियाएँ सर्वत्र कर्ता के अनुसार हैं—रामः गतः, रमा गता, सुन्दरी आगता। हिन्दी में भी ऐसी (जाना-आना अर्थ

रखनेवाली) सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में 'कर्तृ वाच्य' ही होती हैं—राम गया, रमा गयी, सुन्दरी आयी। कर्म का प्रयोग होने पर भी ऐसी क्रियाएँ कर्ता के ही अनुसार चलती हैं।

भूतकाल के सब भेद इन्हीं प्रयोगों से बनते हैं। 'आयो' 'गयो' आदि सामान्य भूतकाल है। 'है' लगा देने से आसन्न भूतकाल बन जाता है—'आयो है बानर एक बड़ो'। 'था' की जगह 'हुतो' लगा कर पूर्ण भूतकाल व्रजभाषा में बनता है—'करत हुतो मैं बात उन सों' बहुवचन में 'हुते' और स्त्रीलिंग में 'हुती'। परन्तु इनका प्रयोग बहुत ही कम देखा जाता है। 'रह्यो' लगा कर ही प्रायः पूर्ण भूतकाल की क्रिया बनाते हैं—'करति रही' इत्यादि।

हेतुहेतुमद्भूत में 'य' की जगह प्रायः 'त' लग जाता है—आवतो जो पै कहूँ वह स्याम, हरे सब होते ये रूखे बगीचे'। 'श्याम यदि आता, तो ये सूखे बगीचे हरे हो जाते।' श्याम का आना हेतु है। बगीचों का हरा हो जाना हेतुमान् (कार्य) है। काल भूत है ही। जब हेतु और हेतुमान दोनो हों और काल भूत हो, तब 'हेतुहेतुमद्भूत काल' की क्रिया दी जाती है। बहु बचन में 'तो' बन जाता है 'ते' और स्त्रीलिंग में 'ती'। स्त्रीलिंग के बहुवचन में 'तीं'।

'मेघ जौ बरसते तौ पपीहा क्यों कराहतो'। मेघ की 'वर्षण' क्रिया हुई नहीं।

बहुवचन में—'करते जो न नेता अहो एतो स्रम, कैसे के

भारत तौ फिरि कै उबरतो' यहाँ 'करते' बहुवचन है। उत्तरार्द्ध में 'उबरतो' एक वचन हेतुहेतुमद्भूत है।

इस प्रकार संक्षेप से भूतकाल का उल्लेख हुआ। और भेद या प्रयोग-वैचित्र्य सब भाषा देखने से स्पष्ट हो जाते हैं।

भूतकाल में 'य' प्रत्यय होता है, जिस का विवरण कृदन्त में मिले गा। संस्कृत के भूतकाल प्रत्यय को 'य' बना कर हिन्दी ने लिया है; पर वर्तमान काल के 'त' को उसी रूप में। यह सब कृदन्त में देखिए। हिन्दी की वर्तमान और भूतकाल आदि की क्रियाएँ कृदन्त ही हैं। थोड़ी सी स्पष्टता यहाँ की जाती है।

अकर्मक क्रियाओं से 'क्त' प्रत्यय 'कर्तरि' होता है—रामः सुप्तः, बालकौ सुप्तौ, रमा सुप्ता इत्यादि। हिन्दी में भी इसी के अनुसार भूतकाल में अकर्मक क्रिया कर्तृवाच्य होती है—राम सोया, रमा सोयी। ब्रजभाषा में भी 'राम सोयो, 'सब बालक सोये, रमा सोई, इत्यादि कर्तृवाच्य हैं। सो, ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि हिन्दी में भूतकाल का द्योतक 'य' अक्षर 'त' का ही घिसा-घिसाया रूप है। 'कृत' से 'किय' और फिर 'किय' तथा 'किया' 'कियो' आदि हैं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि तब बताओ, संस्कृत में 'क्त' प्रत्यय कुछ धातुओं से 'कर्मणि' और कुछ से 'कर्तरि' क्यों होता है? इसका जवाब उन से पूछिए, जो उस युग में थे, जब संस्कृत जनभाषा थी। वे भी कह देंगे, भाषा का प्रवाह ही ऐसा है।

संस्कृत में सकर्मक क्रिया का प्रयोग या तो कर्तृवाच्य होता है, या कर्मवाच्य। भाववाच्य प्रयोग सकर्मक क्रिया का नहीं होता। परन्तु हिन्दी का मार्ग भिन्न है। यहाँ सकर्मक क्रिया का भाववाच्य प्रयोग खूब होता है। सीता ने राम को देखा, राम ने सीता को देखा, मैंने सीता को देखा, सीता ने मुझे देखा, इत्यादि कर्ता और कर्म में चाहे जैसा परिवर्तन कर दो, क्रिया अन्य पुरुष, एक वचन पुल्लिङ्ग 'देखा' रहेगी। यही भाववाच्य है। कर्मवाच्य—'राम ने लता देखी' और 'राम ने वृक्ष देखा, आदि हैं ही। सो, खड़ी बोली में सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में कर्मवाच्य होती हैं, या भाववाच्य। 'राम ने पुस्तक पढ़ी' आदि को हिन्दी-व्याकरणों में 'कर्मवाच्य' बतलाया है; सो गलत है। क्रिया प्रत्यक्ष कर्म के अनुसार है।

ब्रजभाषा में भी सकर्मक क्रियाएँ भूतकाल में कर्मवाच्य या भाववाच्य होती हैं—'राम ने देखी एक लता' या 'रमा ने देख्यो एक प्रसून' में क्रिया कर्मवाच्य है। परन्तु 'दनुज ने देख्यो उन बनितानि' 'सखी ने देख्यो उन बनितानि' 'हम ने देख्यो तुम कौं' इत्यादि भाववाच्य प्रयोग है।

स्पष्ट हुआ कि सकर्मक क्रियाएँ ब्रजभाषा में, भूतकाल में, कर्मवाच्य और भाववाच्य में प्रयुक्त होती हैं; पर जिन सकर्मक क्रियाओं का अर्थ 'जाना-आना' है, वे कर्तृवाच्य रहती हैं। अकर्मक क्रियाएँ तो सदा कर्तृवाच्य रहती ही हैं।

आज्ञा, विधि, प्रार्थना आदि

अब कुछ ऐसे प्रयोग दिये जायँगे, जिनका सम्बन्ध वैसा किसी काल से नहीं, बल्कि विशेष अभिप्रायों से होता है। आज्ञा, विधि, प्रार्थना, सम्भावना, आशीर्वाद आदि में विविध प्रयोग होते हैं। 'राम करै अब काम' और बहुवचन में 'पढ़ैं सब अपनी-अपनी चीज' यों अन्य पुरुष में आदेशात्मक क्रियाएँ होती हैं। मध्यम पुरुष में एक वचन 'राम राम पढ़ु पर्‌यो पींजरे' और बहुवचन 'करौ तुम सफल हमैं भगवान' रूप होते हैं। 'पढ़ु' का कर्ता 'तू' और 'करौ' का तुम है। इसी तरह 'करु' तथा 'पढ़ौ' आदि समझिए। आदर में एक व्यक्ति के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होता है। बड़ा एक आदमी सैकड़ों छोटों के बराबर होता ही है। अपने आप को कोई आज्ञा देता नहीं है; इस लिए ऐसे प्रयोग उत्तम पुरुष में होते नहीं हैं। प्रश्न या वितर्क में अवश्य होते हैं—'कहा करौं अब सजनि उपाय'।

चेतावनी-पूर्वक नीच या दुष्ट को उपदेश करते समय भी ऐसे ही प्रयोग होते हैं—

करु न निरादर लौंग को, एरे क्रूर कपूर !
तजि दैहै जौ संग तो, उड़ि मिलिहै कहुँ धूर !

(तरंगिणी)

ये सब प्रयोग कर्तृवाच्य हैं, जो पुल्लिंग-स्त्रीलिंग में समान

रहते हैं—राम करै, सब छात्र करैं, बाला करै, तू करु, तुम करौ, इत्यादि ।

यदि आदर-पूर्वक किसी से प्रार्थना करनी हो, तब ऐसे प्रयोग नहीं होते । तब यों कहा जाता है:—

'अजहुँ जानकी दीजै,

लंकापति-तिय कहति पिया सों, यामें कछू न छीजै'

(सूर)

'दीजै' प्रार्थना में है—दीजिए । 'छीजै' वर्तमान काल की क्रिया है—इस से कुछ छीजता नहीं, बिगड़ता नहीं है । सूरदास के अन्य प्रयोग भी देखिए—

'द्विज कहियो हरि सों समुझाइ'

यहाँ 'कहियो' प्रार्थना ही है, भविष्यत् काल के साथ। सूरदास ने दूसरी तरह से भी प्रार्थना मे प्रयोग किये हैं—

'मेरी एती बिनती करनी

पहिले तौ परनाम पायँ परि, मनि रघुनाथ-हाथ लै धरनी ।'

'करनी' कीजिएगा । 'धरनी' धरिएगा ।

'महरि ऐसे सुभग सुत सों एतो कोप निवारि'

'निवारि' निवारण कीजिए, दूर कीजिए । ध्यान देने से जान पड़ेगा कि 'करु' 'करै' 'करौ' आदि संस्कृत के 'कुरु' आदि के समान हैं, उन्हीं की सन्तति, या विकसित रूप, या उसी अनुकरण पर । इसी लिए 'कुरु' (संस्कृत

तिङन्त क्रिया) के समान 'करु' 'करौ' आदि कर्तृवाच्य हैं। परन्तु 'एनो बिनती करनी' या 'मनि रघुनाथ-हाथ लै धरनी' में 'करना' और 'धरना' स्पष्टतः कर्म के अनुसार रूप हैं। 'बिनती करनी'। संस्कृत में 'तव्य' की तरह एक 'अनीय' प्रत्यय भी होता है, जिस से विधि-प्रार्थना आदि सूचित होती है—'विनतिः करणीया' 'मणिः धरणीया' इत्यादि। यही 'करणीया' आदि हिन्दी में 'करनी' आदि के रूप में आ गया है। 'करनी' भी स्त्री-लिंग है, ब्रजभाषा-नियमों के अनुसार।

'दीजै' 'कीजै' आदि में 'अनीय' नहीं, 'य' प्रत्यय है; संस्कृत के 'जेयः' 'पेयम्' आदि की तरह।

'करहि' से 'करै' आदि हैं। और यह 'हि' 'है' का संक्षिप्त रूप है। 'सबै' में 'हि' अव्यय 'ही' है। 'करैं' में 'हिं' है, जो 'हैं' का संक्षिप्त रूप है। संज्ञा-विभक्ति 'हिं' पृथक् चीज है। 'करैं' में 'हि' तथा 'हिं' हमने बतलायी है। सो, ये वर्तमान काल प्रथम पुरुष के रूप हैं—करहि, करै, करता है और करहिं, करैं, करते हैं। विधि या आज्ञा में भी 'करै' और 'करैं' होते है। खड़ी बोली में 'करे' और 'करें' इन के रूप हैं। ये 'करे-'करें' और 'करै-करैं' उन 'हिं' और 'हि' से नहीं बने हैं। संस्कृत के 'पठेत्' विधि से यहाँ 'ए' आया है और 'ऐ' हो गया है।

हाँ, तो ब्रजभाषा में 'कीजिय' का 'कीजै' हो गया है। इसी लिए 'कीजै' आदि कर्तृवाच्य नहीं, भाववाच्य हैं।

'रहिमन करुए-मुखनि कौं, 'चहियत' यही सजाय'

'मदन गोपाल मधुपुरी हू तजि' सुनियत अनत सिधारे'

'कहियत स्याम करत है सजनी, दूध-दही की चोरी'

इत्यादि स्थलों में, चहियत, सुनियंत, कहियत आदि क्रियाएँ भी भाववाच्य हैं; परन्तु कृदन्त 'य' प्रत्यय से नहीं, तिङन्त 'इयत' प्रत्यय से। यह 'इयत' प्रत्यय संस्कृत 'क्रियते' आदि से आया है। हिन्दी में सकर्मक क्रियाएँ भी भाववाच्य होती हैं, यह अनेक वार कहा गया है। कहियत—कहा जाता है। सुनियत—सुना जाता है। इसी प्रकार अकर्मक क्रियाओं के—'मरियत' आदि प्रयोग मिलते हैं।

तुलसीदास ने भी प्रार्थना आदि में 'कीजै' आदि भाववाच्य क्रियाओं का प्रयोग किया है—

'क्रोध कीजै कर्म को, प्रबोध कीजै तुलसी को,
सोध कीजै तिन को, जे दोष-दुख देत हैं,

'सोध' 'शोध' यानी शुद्धि, प्रतिशोध के साथ।

और भी—

'तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिए'
'श्री रघुबीर निवारिए पीर'

यहाँ 'फेरिय' का 'फेरिए' और निवारिय' का 'निवारिए' है। यानी 'य' को 'ऐ' न होकर 'ए' हो गया है। 'इ' से परे यदि य् हो, तो उसे प्रायः 'ए' होता है, 'ऐ' नहीं—निवारिए, करिए, फेरिए, काटिए, इत्यादि।

'खड़ी बोली' में विध्यर्थक 'कीजिए' 'काटिए' आदि रूप इसी

परम्परा के हैं, जो कर्तृवाच्य न हो कर कर्मवाच्य या भाव-वाच्य होते हैं। 'अवधी' में 'करिय' आदि प्रयोग भी यही हैं, जहाँ 'य' जैसे का तैसा बना है।

खैर, इस प्रकार ब्रजभाषा में प्रार्थना आदि के रूप होते हैं, जिनके कर्त्ता 'तुम' या 'आप' होते हैं।

ऐसी क्रियाओं से कभी-कभी असह्यता भी सूचित होती है—

'नैननि कौं तरसैये कहां लौं,
कहां लौं हियो बिरहागि में तैये !

यहाँ 'य' के साथ 'ए' है। ऐसा भी होता है। कर्तव्यता भी प्रकट की जाती है, ऐसी क्रियाओं से—

'आवत जी में विचार यही,
सखी चलि सौतिहुँ के घर जैये,

'जैये' जाना चाहिए। जाना कर्तव्य है। सम्भावना भी व्यक्त की जाती है—

'मान घटे ते कहा घटिहै, जुपै प्रानपियारे कौं देखन पैये'

'देखन पैये' देखने पाऊँ! वे देखने को मिलें। प्रार्थना आदि में 'रहियो' 'करियो' जैसे ओकारान्त मधुर-कोमल प्रयोग भी होते हैं, जो ब्रजभाषा-प्रकृति के अधिक अनुकूल हैं—'मया करति नित रहियो' 'एती तऊ दया करियो' ये भी 'रहिय' 'करिय' के ओकारान्त रूप हैं। मध्यम पुरुष में आते हैं। खड़ी बोली में भी 'पुस्तक मत पढ़ना' आदि भाववाच्य प्रयाग हैं। ये सब भव-ष्यित् से संवलित हैं।

इसी प्रकार प्रयोग-वैविध्य से अनेक अर्थ ध्वनित किये जाते हैं, जो मूल क्रिया के अपने अर्थ के साथ संवलित होकर झलकते हैं। इन विभिन्न (प्रार्थना आदि) अर्थों का अभिव्यंजन विविध प्रत्ययों के द्वारा होता है।

सो, यह सब अधिक विस्तार से लिखने का लोभ किसी तरह मैं संवरण कर रहा हूं। प्रश्न में— 'कैसे तुम्हें रिझाऊँ'। 'रिझावत' के 'व' का लोप सवर्ण स्वर 'ऊ' परे होने से। इसी तरह 'अब तुम हरिगुन गाओ' में सवर्ण 'ओ' परे होने से 'व' लोप, 'गावत' का। लोप होने में कारण स्पष्ट श्रुति का अभाव।

क्रिया के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें

भाषाओं की उम्र बड़ी होती है; यद्यपि उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहते हैं, काट-छाँट भी। शब्द समूह का नाम ही भाषा है। शब्द रूप-रंग बदला करते हैं। संज्ञा से क्रिया बन जाती है और क्रिया से संज्ञा। एक शब्द से दूसरा. शब्द, एक संज्ञा से दूसरी संज्ञा। यह सब अपने आप होता रहता है।

कभी-कभी क्रिया अपने असली रूप से उड़ जाती है और अपने (पुत्र) संज्ञा से स्मृत होती है। यास्क ने निरुक्त में लिखा है कि कम्बोज (कम्बोडिया) देश में 'शवति' क्रिया का प्रयोग होता है; पर आर्य्यों में (इस देश में) यह क्रिया प्रचलित नहीं है। संस्कृत-साहित्य में 'शवति' का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। इसका कृदन्त (संज्ञा) रूप 'शव' अवश्य प्रचलित है। यानी 'शवति' का प्रयोग यहाँ से उठ गया, जो कभी

'जीवति' की तरह चालू था। अन्यथा 'शव' कहाँ से आ गया? शवति—निश्चेष्ट होता है।

ठेठ हिन्दी में लीजिए। कभी 'खड़ना' क्रिया प्रचलित होगी 'खड़ा होना' क्रिया ही है। परन्तु अब 'खड़ता है' कोई नहीं बोलता। 'खड़ा होना' अवश्य प्रचलित है और उसी से 'खड़ा होता है' इत्यादि अब बनाते हैं। यदि मूल क्रिया यहां से उठ न जाती, तो 'राम उठता है' की तरह 'खड़ता है' बोला जाता। 'उठना क्रिया अपने रूप में मौजूद है; इसलिए 'राम उठा होता है, ('राम खड़ा होना है' की तरह) नहीं बोला जाता; प्रत्युत ऐसा बोलना बुरा लगता है। बुरा इसीलिए लगता है कि क्रिया का असली रूप विद्यमान है। 'राम खड़ता है' जितना बुरा लगता है, उतना ही 'राम उठा होता है, ('राम उठता है' के अर्थ में)। भाषा के अनन्त प्रवाह में यह सब होता रहता है। पंजाबी भाषा में 'रेल खड़ती है' बोलते हैं, जो हिन्दी की ही बहन है।

कभी-कभी कोई क्रिया किसी काल में प्रयुक्त होती रहती है और दूसरे काल में उसके प्रयोग लुप्त हो जाते हैं। 'भवति' और 'अस्ति' दो क्रियाएँ संस्कृत में हैं। 'अस्ति' माने 'है' और 'भवति' 'होता है'। दोनों में अन्तर है न? परन्तु भविष्यत् काल में 'अस्' का प्रयोग बिलकुल गायब हो गया, 'भवति' का ही 'भविष्यति' सर्वत्र है।

हिन्दी में—ब्रजभाषा में—भी 'भवति' और 'अस्ति' इन

दोनों का अस्तित्व है। भूतकाल में 'भवति' का रूप 'भयो' आदि है; पर वर्तमान और भविष्यत् काल में वह गायब है। यहाँ 'होना' क्रिया प्रयुक्त होती है—है; होइ गो, इत्यादि। यह 'होना' क्रिया 'अस्' के वंश से है; पर इतनी दूरी हो गयी है कि पहचान में आना कठिन है। 'स' प्राय: 'ह' बन जाता है— 'सप्त' फारसी में हफ्त' हो जाता है और हिन्दी में ही 'इक सत्तर' का 'इक हत्तर' हो जाता है। 'अस्' के 'स्' का 'ह' हुआ—'अह'। फिर 'अह' से 'अहै' और अहै' का रह गया 'है'। 'है' के फिर विविध रूप—हैं, इत्यादि। बहुवचन में ऊपर बिन्दी भी 'सन्ति' की याद दिलाती है। वहाँ 'न्' से बहुत्व प्रकट है, हिन्दी में अनुस्वार या अनुनासिक से। 'न' अनुनासिक बन ही जाता है, संस्कृत में भी। यही 'अस्' कहीं 'से' 'सै' और 'छे' 'छै' भी हो गया है। 'स' और 'छ' का स्थान एक ही है।

सो, 'होने' के अर्थ में ब्रजभाषा में, वर्तमान तथा भविष्यत् काल आदि में अह' या 'अहै' क्रिया है, 'अस्' का प्रतिरूप। परन्तु भूतकाल में 'भवति' का अंश है—भयो, भये इत्यादि। भूतकाल में ब्रजभाषा ने 'अह' को नहीं लिया है। संस्कृत में भविष्यत् काल मे 'अस्' नहीं है और यहां भूतकाल मे। खड़ी बोली में सर्वत्र 'होना' है—'हुआ' इत्यादि।

यों तो ब्रजभाषा में भी भूतकाल मे 'अस्' या 'अह्' की उपस्थिति है—'हुतो एक सुपच' (भक्तमाल)। 'वैष्णववार्ता'

आदि में भी 'हते' 'हती' आदि प्रयोग मिलते हैं; परन्तु व्रजभाषा के उत्कृष्ट काव्य में ये हतो, हती, आदि प्रयोग बहुत कम आये हैं। सुनने में बुरे लगते हैं: इसलिए 'हुते' आदि के रूप किये गये और बाद में बिलकुल छोड़ दिये गये। 'रह्यो' आदि रहे–

'रह्यो एक बनिक'

व्रजभाषा में 'हुआ' के अर्थ में 'भयो' का प्रयोग होता है–

'भयो क्यों अनचाहत को संग' ? और 'था' के अर्थ में 'रहयो' आता है -'रह्यो एक बनिक' इत्यादि । बहुवचन में 'भये' और 'रहे'। स्त्रीलिङ्ग में 'भई' और 'रही।'

इस तरह 'खड़ी बोली' में 'हते' बन गया 'थे' और 'हती' हो गया 'थी'। मेरठ के ओर पास तो—'एक राजा हा। उसकी एक रानी ही' यों भूतकाल में 'हा' 'ही' बोलते हैं। साहित्यिक भाषा में 'थी' 'थे' आदि व्रजभाषा के 'हती' 'हते' आदि ही भिन्न रूप में हैं; क्योंकि 'ही' कभी 'थी' बन नहीं सकती। 'त्' और 'ह' मिल कर 'थ' होता ही है। 'हती' के 'ह' तथा 'त' का 'विपर्य्यय' हो गया। 'ह' उधर और 'त्' ह् मिल कर 'थ्'। 'थ्' मिला आगे 'ई' से। थी हो गया। इसी तरह 'हते' से 'थे' समझिए। 'हा' और 'ही' भी उसी 'अस्' से हैं और 'हते तथा 'हती' भी। परन्तु राष्ट्रभाषा यहां मेरठीपन छोड़ कर व्रजभाषा की ओर झुकी है: इसी के रूपों को ग्रहण किया है। यह सब किस तरह हुआ, कब हुआ, सो सब बतलाना किसी के लिए शक्य नहीं।

सोचने से यह भी जान पड़ता है कि 'होना' क्रिया के भूत काल में प्रयुक्त 'रह्यो' 'रही' आदि पद 'रहना' क्रिया के रूप 'रह्यो' से भिन्न चीजे हैं। अर्थभेदात् शब्दभेदः। जितने अर्थ, उतने शब्द। जान पड़ता है 'हते' 'हती' की अपेक्षा मेरठी के 'हा' 'ही' को ब्रजभाषा साहित्य ने अधिक पसन्द किया और कटुता दूर करने के लिए शुरू में 'र' का आगम कर लिया। 'आ' को 'ओ' हो ही जाता है। 'हा' बना 'रह्यो' और 'ही' बन गयी 'रही। ब्रज में भी राजा हो' आदि बोलते हैं

ऊपर जो हमने 'हते' से 'थे' और 'हती' से 'थी' होने की बात कही है; सो मनगढ़न्त, अप्रामाणिक या अटकलपच्चू नहीं है। भाषा के प्रवाह में अन्यत्र भी 'त्' और 'ह' मिलकर 'थ' का होना आप देख सकते हैं। तिहारो –थारो, तिहारी—थारी, इत्यादि स्पष्ट उदाहरण हैं।

वर्ण-विपर्य्यय के भी उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं। 'संघटन-संगठन' पर ध्यान दीजिए। ग् और ह मिल कर 'घ' बनता है। 'संघटन' के 'घ' से 'ह्' निकल कर 'ट' के आगे (स्वर से पहले) आ लगा। ह निकल जाने से 'घ' का 'ग' रह गया और 'ह' (आ मिलने से) 'ट' बन गया 'ठ'। इस प्रकार 'संघटन' से 'संगठन' हो गया। 'ह्' के इधर-उधर होने का यह एक उदाहरण मात्र है। और जगह भी आप वर्ण-विपर्य्यय के ऐसे शतशः उदाहरण देख सकते हैं।

सो, इस प्रकार क्रिया का मूल रूप और उसके विभिन्न

कालों तथा पुरुषों में प्रयोग बतलाये गये। और भी विचित्रताएँ हैं। कहीं कहीं अवधी को ब्रजभाषा का जामा पहनाया गया है। तुलसीदास जी ने अपनी ब्रजभाषा-कविता में 'भयो' की जगह 'भो' और 'भये' के लिए 'भे' प्रयोग किया है। 'अवधी' में 'भा' होता है 'भो' नहीं—'भा भिनसारा' इत्यादि। 'ओ' लगा कर तुलसी ने 'भो' कर लिया और 'भयो' के अर्थ में दिया है—

'तुलसी प्रताप जाको प्रबल अनल भो'

इत्यादि। कोई भाषा जब साहित्यिक रूप धारण करती है, तब विस्तार के साथ-साथ अन्य प्रादेशिक बोलियों के मिश्रण उसमें होते ही हैं। इसी लिए ब्रजभाषा में अवधी-सर्वस्व गोस्वामी तुलसीदास ने वैसे प्रयोग किये हैं।

इस प्रकार की अनन्त बातें हैं, जो भाषा-विज्ञान के पंडितों के काम की हैं। व्याकरण से जितना सम्बन्ध है, संक्षेप में कहा गया।

अब आगे के अध्याय में क्रिया के रूप-विकास का वर्णन किया जायगा, जो विविध प्रयोगों से होता है।

पञ्चम अध्याय

क्रिया का विकास

—:※:—

क्रिया का प्रयोग जब अनेक तरह से होने लगता है; तब उसके रूप का विकास होता है। 'कर्मकर्तृ' तथा 'प्रेरणा' आदि यही विकास है, मूल क्रिया का। मूल क्रिया के विविध कालों और पुरुषों मे प्रयोग पीछे बताये गये और यह भी बताया गया कि क्रिया कहीं कर्ता के अधीन (कर्तृवाच्य) रहती है, कहीं कर्म के अधीन (कर्मवाच्य)। कहीं वह इन दोनों में से किसी के भी अधीन न रह कर स्वतन्त्र सत्ता रखती है। तब भाववाच्य कहलाती है, और ऐसी दशा में सदा ही (क्रिया मे) अन्य पुरुष, पुल्लिङ्ग, एक वचन रहता है।

यह भी दिखाया गया कि क्रिया वर्तमान तथा भविष्यत् काल में और आज्ञा आदि में 'कर्तृवाच्य' रहती है, चाहे अकर्मक हो, चाहे सकर्मक। राम पढ़ता है (राम पढ़त) और सीता पढ़ती है (सीता पढ़ति) इत्यादि। भविष्यत् काल में भी इसी तरह।

इनका वाच्य परिवर्तन नहीं हो सकता। शिक्षा-विभाग में ऐसी क्रियाओं का वाच्य परिवर्तन चालू है, जो व्यर्थ का गोरख-धन्धा है, और प्रचलित गलत हिन्दी-व्याकरणों पर अवलम्बित है।

भूतकाल में अकर्मक क्रियाएँ कर्तृवाच्य और सकर्मक कर्मवाच्य या भाववाच्य होती हैं—'राम ने पुस्तक पढ़ी'। अकर्मक-'राम उठ्यो' 'सीता सोई' इत्यादि। सकर्मक भाववाच्य—'राम ने तुझे देखा, मा को देखा' लड़कों को देखा,' इत्यादि। ब्रजभाषा में 'राम ने तो कौं देख्यो, मो कौं देख्यो, जननी कौं देख्यो', इत्यादि। इन्हें (कर्मवाच्य या भाववाच्य को) कर्तृवाच्य में नहीं लाया जा सकता, वाच्य-परिवर्तन हो नहीं सकता। अकर्मक राम उठ्यो' आदि को भी भाववाच्य में नहीं किया जा सकता। 'मो सों उठ्यो न जात' यह दूसरी चीज है, शक्ति निषेध।

सारांश, संस्कृत और अँग्रेजी की तरह हिन्दी में सब क्रियाओं का वाच्य-परिवर्तन करने-कराने की चाल एक अन्धपरम्परा है। इसे छोड़ना चाहिए।

यह सब पीछे कहा गया। अब इस अध्याय का अभिधेय सामने आता है।

क्रिया का 'कर्मकर्तृ' रूप

सकर्मक क्रियाओं का एक ऐसे ढंग से भी प्रयोग होता है, जब कर्ता बिलकुल सामने नहीं आता और कर्म का प्रयोग कर्ता

की तरह होता है। कोई बैठा चटाइयाँ बना रहा है। वह बनाने वाला कर्ता है, चटाइयाँ कर्म है। किसी ने आकर कहा—'आज तो बहुत चटाइयाँ बन रही है।' 'बनना' मूल क्रिया नहीं, 'बनाना' है। उसी (बनाना) का यह (बनना) संक्षिप्त रूप है। ऐसे प्रयोग होते हैं। चटाइयाँ खुद बन नहीं सकतीं, बनायी जाती हैं। वे 'बनना' क्रिया की कर्ता नहीं, कर्म हैं। बनानेवाला कोई और ही है जो अविवक्षित है, बोला नहीं गया है। कर्ता की तरह कर्म का प्रयोग हुआ है—'चटाइयाँ बन रही हैं,' या 'रोटियाँ पक रही हैं' 'कपड़े सिल रहे हैं' इत्यादि। ये बनाना, पकाना और सीना क्रिया के सकुचित रूप हैं—बनना, पकना और सिलना। रोटियाँ स्वयं नहीं बनतीं और कपड़े खुद नहीं सिलते। ये क्रिया करने मे स्वतन्त्र नहीं हैं, क्रिया निष्पन्न नहीं कर सकते; इसलिए 'कर्ता नहीं। क्रिया का फल इन पर है; ये बनती हैं, पकती हैं और सिलते हैं; इसलिए कर्म हैं। 'राम चटाई बनाता है!' 'राम' बोलने की जरूरत न समझी, तब 'चटाई बन रही है'। बोल भर ऐसा दिया; पर चटाई कोई बना ही तो रहा है। 'चटाई बन रही है' कहने से भी 'चटाई' कर्ता न हो जायगी। वह तो असल में कर्म ही रहेगी। कर्ता की तरह कर्म का प्रयोग भर कर दिया गया है। भाषा का एक प्रवाह है। क्रिया अब इसी कर्म के अनुसार रहेगी, जो मूल अवस्था में कर्ता के अनुसार थी। 'राम चटाई बनाता है' क्रिया पुल्लिङ्ग है, कर्ता (राम) के अनुसार। परन्तु 'चटाई बनती है' कहने पर क्रिया 'चटाई' के

अनुसार है, स्त्रीलिङ्ग। 'कपड़े सिलते हैं' और 'पाजामा सिलता है।' इसे 'कर्मकर्तृ' प्रयोग कहते हैं, कर्म का कर्ता की तरह प्रयोग। सकर्मक क्रियाओं के ही ऐसे प्रयोग होते हैं। अकर्मक क्रियाओं में कर्म होता ही नहीं, तब उनका कर्ता की तरह प्रयोग क्या हो? 'कर्मकर्तृ' में सब प्रयोग अकर्मक होते हैं; क्योंकि जो कर्म है, वह तो कर्ता का बाना पहने, उसके वेष में है। कर्म की तरह किस का प्रयोग हो?

इसे 'कर्मवाच्य' इसलिए नहीं कहते कि प्रयोगतः कर्म प्रत्यक्ष है ही नहीं। जब कर्ता प्रत्यक्ष हो और कर्म अलग प्रयुक्त हो तथा क्रिया कर्म के अनुसार हो, तब 'कर्मवाच्य' क्रिया कही जा सकती है; जैसे—'राम ने चटाई बनाई'। क्रिया कर्म (चटाई) के अनुसार स्त्रीलिङ्ग है, कर्ता (राम) के अनुसार पुल्लिङ्ग नहीं। इसे 'कर्मवाच्य' कहते हैं। 'चटाई बन रही है' 'कर्मकर्तृ' प्रयोग है।

सकर्मक क्रिया का 'कर्मकर्तृ' प्रयोग और मूल अकर्मक क्रिया का कर्तृवाच्य प्रयोग भली भाँति समझ लेना चाहिए। इसके समझने में बड़ी गड़बड़ हो जाती है और हिन्दी के बड़े-बड़े व्याकरणकारों ने धोखा खा कर सकर्मक क्रिया के 'कर्मकर्तृ' प्रयोग को मूल अकर्मक क्रिया मान लिया है। फलतः 'बनना' की प्रेरणा 'बनाना' आदि लिख दिया है। वस्तुतः 'बनाना' मूल सकर्मक क्रिया 'बनना' उसका 'कर्मकर्तृ' प्रयोग और 'बनवाना' प्रेरणा है।

कर्म का ही नहीं, करण तथा अधिकरण आदि का भी कर्ता

की तरह वाक्य मे प्रयोग होता है–'तलवार शत्रु-सिर काटती है'। यहाँ करण का कर्ता की तरह प्रयोग है। तलवार खुद नहीं काट सकती, उसके द्वारा कोई अन्य काटता है; पर यहाँ तलवार की खूबी दिखाने के लिए वैसा प्रयोग है। करण आदि जब कर्ता की तरह प्रयुक्त होते हैं, तब क्रिया अकर्मक नहीं होती; क्योंकि कर्म तो ज्यों का त्यों बना रहता है। इसी तरह यह बटलोही पाँच सेर पकाती है। अधिकरण (बटलोही) का कर्ता की तरह प्रयोग है। वस्तुतः बटलोही कर्ता नहीं है, वह पका नहीं सकती। उसमें कोई पकाता है, जो अविवक्षित है, उच्चारित नहीं है।

इस प्रकार मूल सकर्मक 'क्रिया' का संकुचित रूप 'कर्मकर्तृ' प्रक्रिया है। 'संकोच' को भी 'विकास' हमने एक विशेष अर्थ में लिखा है। विकास खिलना, फैलना, बढ़ना। परन्तु यहाँ शब्द शास्त्र में 'शब्द-विकास' से मतलब है, शब्द में कुछ परिवर्तन हो जाना, घट-बढ़ जाना।

यों मूल क्रिया का एक विकास तो यह हुआ। ब्रजभाषा में 'बसन बनत अति सुघर घरनि घर या नगरी में' इस तरह 'कर्म-कर्तृ' के खूब प्रयोग हैं।

प्रेरणा प्रक्रिया

जब क्रिया एक कर्ता के द्वारा होती है और उसे दूसरा प्रेरित करता है, तब प्रेरणा-प्रयोग होते हैं। 'पढ़ना' मूल क्रिया है और 'पढ़ाना' उसकी प्रेरणा। संस्कृत में 'पठति' मूल क्रिया की प्रेरणा 'पाठयति' है। यानी आद्य स्वर दीर्घ हो जाता है और बीच में

'य' आ जाता है। ब्रजभाषा में 'पढ़त' मूल क्रिया और 'पढ़ावत' उसकी प्रेरणा। 'पढ़ति' की-'पढ़ावति'। ब्रजभाषा में आद्य नहीं, मध्य स्वर दीर्घ होता है और 'य' की जगह 'व' बीच में आता है। यदि आद्य स्वर मूल क्रिया में दीर्घ हो तो प्रेरणा में ह्रस्व हो जाता है—गावत-गवावत, रीझत-रिझावत, मूँदत-मुँदावत, इत्यादि। 'व' की जगह 'य' प्रेरणा में ही नहीं, मूल क्रिया में भी देखा जाता है—गायति (संस्कृत) का 'गावत' ब्रजभाषा।

असली (मुख्य) कर्ता यहाँ कर्म कारक की तरह प्रयुक्त होता है। यानो विभक्ति आदि सब कर्म-कारकवाली उसमें लगती हैं; जैसे—'राम गोविंदहिं वेद पढ़ावत'।

राम गोविन्द को वेद पढ़ाता है। तो, पढ़ता तो गोविन्द ही है न? इसलिए असल में कर्ता वही है। राम उसे प्रेरित करता है, पढ़ने में। फलतः यह भी एक कर्ता हुआ—'प्रेरक' या 'प्रयोजक' कर्ता। मुख्य कर्ता को 'प्रयोज्य कर्ता' कहते हैं, जिसका प्रयोग कर्म की तरह होता है।

तो, मूल क्रिया की सकर्मक क्रिया यहाँ 'द्विकर्मक' हो गयी। एक असली कर्म, एक नकली या 'गौण'। पढ़ने-पढ़ाने का असली कर्म यहाँ 'वेद' है। परन्तु कर्ता (गोविन्द) का भी कर्म की तरह प्रयोग है। इसे 'गौण कर्म' कहते हैं। ऐसी प्रेरणा में जब द्विकर्मक क्रिया आती है, तब विभक्ति गौण कर्म में ही लगती है—'गोविन्दहिं'। परन्तु जब प्रेरणा का कर्मवाच्य रूप होता है, भूतकाल में, तब क्रिया किस कर्म के अनुसार होगी? मुख्य

कर्म के अनुसार, या गौण के अनुसार ? यह प्रश्न होगा।

उत्तर है, ऐसी दशा में क्रिया मुख्य कर्म के अनुसार होगी, गौण के नहीं। विभक्ति लगेगी गौण कर्म में और क्रिया के पुरुष-बचन आदि होंगे मुख्य कर्म के अनुसार। देखिए—

'राम ने गोविन्दहिं लता दिखाई' 'राम ने गोविन्दहिं वेद पढ़ाये'

जो मूल क्रियाएँ अकर्मक हैं, वे प्रेरणा में आ कर सकर्मक हो जाती हैं। उठना, बैठना, जागना आदि अकर्मक क्रियाएँ हैं। परन्तु प्रेरणा में इनके कर्ता कर्म की तरह प्रयुक्त होंगे; यद्यपि (असली तौर पर) कर्तृत्व उनमें रहेगा ही। तो, अकर्मक क्रियाएँ भी प्रेरणा में सकर्मक हो जाती हैं—

'उठावति जसुदा श्री गोपालहिं'। 'बैठावति गोपी कौं जसुदा'।

सर्वत्र कर्ता ही कर्म बने हैं। अकर्मक क्रियाएँ सकर्मक हो गयी हैं और वे कर्ता के अधीन हैं; वर्तमान काल के कारण। भूतकाल में कर्मवाच्य क्रियाएँ हो जायँगी—

'उठायो जसुदा ने गोपाल' 'जगाई जननी मदनगुपाल'

इसका भाववाच्य प्रयोग भी होगा—

'जगायो जननी कौं गोपाल' 'जगायो गोपनि कौं जसुदा'

इत्यादि। सर्वत्र 'जगायो' क्रिया रहेगी। कहा जा चुका है कि हिन्दी में सकर्मक के भाववाच्य प्रयोग भी होते हैं, जो संस्कृत में नहीं होते। वहाँ (संस्कृत में) सकर्मक क्रिया के कर्तृ-वाच्य प्रयोग होते हैं। यहाँ हिन्दी का मार्ग पृथक् है।

'कर्मकर्तृ' में मूल सकर्मक क्रिया अकर्मक हो जाती है और

यहाँ (मूल) अकर्मक क्रिया सकर्मक। और सकर्मक होती है द्विकर्मक। वहाँ कमी, यहाँ बढ़ती है।

क्रिया का लगातार या खूब होना

कभी-कभी क्रिया का लगातार जारी रहना या बहुत अधिक होना विवक्षित होता है। किसी चीज की अधिकता सूचित करने के लिए वाचक शब्द प्रायः द्विरुक्त हो जाता है। ऐसा होने से शक्ति का बढ़ जाना स्वाभाविक है। एक और एक मिल कर ग्यारह हो जाते हैं। शब्द-शक्ति भी बढ़ जाती है। 'उसकी लाल-लाल आँखें आग उगल रही थीं।' 'लाल' शब्द ने द्विरुक्त हो कर शक्ति बढ़ा ली। मतलब—बहुत ही लाल आँखें। कभी पर्य्याय शब्द से भी अर्थ दुगना किया जाता है—'लाल सुर्ख, आदि। इसी तरह क्रिया की भी द्विरुक्ति होती है, यदि वह लगातार जारी रहे, या बहुत अधिक हो। संस्कृत में 'पठति' का 'पापठ्यते' और 'पचति' का 'पापच्यते' होता है। 'पढ़ता ही रहता है, खूब पढ़ता है' और 'पकाता ही रहता है' या 'बहुत पकाता है'। यों द्विरुक्त होकर क्रियाएँ विशेष अर्थ देती हैं। 'पठ पठ' दो बार हो कर पूर्व 'पठ' के 'ठ' का लोप और आद्य स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है।

ब्रजभाषा में और खड़ी बोली में भी ऐसा अर्थ द्योतन करने के लिए क्रिया द्विरुक्त होती है—'चलत चलत मैं हारी' और 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' आदि प्रसिद्ध प्रयोग हैं। 'खड़ी बोली' में भी 'लिखते लिखते मेरे हाथ दुखने

लगे' 'पढ़ते पढ़ते वह पागल हो गया' इत्यादि। ब्रजभाषा में स्त्री-लिङ्ग में 'इ' हो ही जाता है—'कहति कहति हौं थकी जसोदा, तू न सुनै कछु मेरी'। खड़ी बोली में 'ई' होती है—'कहती कहती' इत्यादि।

एक क्रिया करते हुए दूसरी करना

एक क्रिया करते हुए दूसरी क्रिया भी की जाय, तब भी द्विरुक्ति होती है। ऐसा अर्थ द्योतन करने के लिए भी ब्रजभाषा में क्रिया द्विरुक्त होती है—'चलत चलत मोहिं देख्यो।' मतलब है, चलते हुए मुझे देखा। यहाँ क्रिया का सातत्य या अधिकता प्रकट करने के लिए द्विरुक्ति नहीं है; केवल इतना प्रकट करना है कि चलना बन्द नहीं हुआ—चलते-चलते ही मुझे देखा। यों खड़ी बोली में भी ऐसे स्थल में क्रिया द्विरुक्त होती है। परन्तु यहाँ (खड़ी बोली में) क्रिया को द्विरुक्त न करके आगे 'हुआ' का प्रयोग करके भी यह अर्थ प्रकट किया जाता है—'जाते हुए मैंने उस से कहा' 'रोटी करती हुई वह इधर देखने लगी' इत्यादि।

पूर्वकालिक क्रिया

एक क्रिया करके कभी दूसरी क्रिया की जाती है। जब दो वाक्य हों, तब तो कोई बात नहीं—'राम ने पुस्तक पढ़ी और फिर घर का काम किया'। ब्रजभाषा में 'पढ्यो वेद राम ने कियो पुनि काज घर को'। दोनों क्रियाएँ—आगे-पीछे के क्रम से दी हैं और दोनों पूर्ण क्रियाएँ हैं—'पुस्तक पढ़ी और काम किया'।

परन्तु संक्षेप करके एक ही वाक्य बनाना हो, तब अकारान्त पूर्वकालिक क्रिया में, व्रजभाषा में, अन्त में 'इ' हो जाती है—'करि काम गयो पढ़िबे सिसु सो' काम करके पढ़ने गया। 'करि' सदा रहेगा, पूर्ण (अन्तिम) क्रिया चाहे जिस पुरुष, वचन, लिंग की क्यों न हो। कभी-कभी आगे 'कै' भी लगा देते हैं—'पढ़ि कै किन आवत है घर कौं सो'। खड़ी बोली में 'कर' या 'करके' लगता है। 'होना' क्रिया का पूर्वकालिक प्रयोग 'ह्वै' अथवा ह्वै कै' और 'छूना' का 'छ्वै' या छ्वैकै' होता है। इसी प्रकार अन्यत्र प्रयोग-भेद दिखायी देते हैं।

व्रजभाषा में यह जो 'इ' प्रत्यय पूर्वकालिक क्रिया में लगता है, सो संस्कृत से आया जान पड़ता है। 'निपीय' आदि का 'ईय' व्रजभाषा में आकर 'इ' हो गया है।

क्रियार्थक क्रिया

एक क्रिया करने के लिए दूसरी क्रिया की जाती है—'पढ़ने के लिए जाता है'। 'पढ़ना' एक क्रिया है। उसी के लिए जा रहा है। 'जाना' क्रिया पढ़ने के लिए है। व्रजभाषा में क्रिया सामान्य के वाचक शब्द 'पढ़नो' 'करनो' आदि के 'ओ' को हटाकर क्रियार्थक क्रिया के स्थल में प्रयुक्त करते हैं—'पढ़न जात रामचन्द'। 'पढ़िबो' 'करिबो' आदि भी व्रजभाषा की भाववाचक संज्ञाएँ हैं। इनका प्रयोग भी क्रियार्थक क्रिया के स्थल में होत है; पर 'कौं' विभक्ति के साथ—'पढ़िबे कौं जात सबै तब कासिका'।

'खड़ी बोली' में भी क्रिया के सामान्य रूप का ही प्रयोग होता है—खाने जाता है, पढ़ने जाता है। 'खाना' 'पढ़ना' आदि शब्द सामान्य क्रिया के वाचक हैं। सामान्य का मतलब यह कि किसी पुरुष, वचन काल आदि से संवलित नहीं। इसी लिए सब पुरुषों, वचनों और कालों में इनका प्रयोग हो जाता है—पढ़िबे कौं जात, जैहै, गयो, या जैहों, जायगी, इत्यादि। सब लग जायगा। 'पढ़िबो' या 'पढ़ना' सब में फिट हो जायगा।

नामधातु

भाषा में प्रयोगवश विचित्र शब्द ढलते रहते हैं। कभी क्रिया से संज्ञा बन जाती है 'गावे, सो 'गवैया'। 'गवैया' एक संज्ञा बन गयी। इसी तरह सज्ञा से क्रियाएँ बन जाती हैं। खड़ी बोली में 'हाथ' से 'हथियाना' और 'मिट्टी' से 'मटियाना' आदि हजारों क्रियाएँ बनती हैं। 'हाथ' और 'मिट्टी क्रियाएँ नहीं, संज्ञाएँ हैं, वस्तु-विशेष के नाम। इन नामों से धातु बना ली; इसी लिए इसे 'नामधातु' कहते हैं।

व्रजभाषा में भी 'नामधातु' खूब प्रचलित हैं। 'सखी री ऐसो मुख पियरायो'। 'पियरायो' पीला पड़ गया। यह वर्ण-वाचक 'पीरो' (पीला) से बनी नामधातु 'पियराना' है। विशेषण भी 'नाम' से यहाँ गृहीत हैं।

'सबै धूति धन खायो'। 'धूर्त' एक संज्ञा है। क्रिया-वाचक नहीं, जाति-वाचक शब्द है। 'धूर्त' का 'धूत' हो गया—'सुनो कान्ह, बलराम चबाई, जनमत ही को धूत'। धूर्त माने ठग।

उस 'धूत' संज्ञा (नाम) से 'धूतना' क्रिया बन गयी और उसी का पूर्वकालिक क्रिया के रूप में 'धूति' प्रयोग सूरदास ने किया है। प्रत्येक काल पुरुष, वचन, लिङ्ग और वाच्य:में, नैसर्गिक क्रिया की ही तरह, इनके भी रूप चलते हैं। क्रिया-जगत ने जब किसी 'संज्ञा' की 'शुद्धि' करके अपने में मिला लिया, तो फिर उससे सर्वथा समान व्यवहार होगा।

इन क्रियाओं में भी अकर्मक-सकर्मक भेद होते हैं। 'मुख पियरायो' में 'पियरायो' क्रिया अकर्मक है और 'धूति' सकर्मक है। कर्तृ, कर्म और भाव, तीनों वाच्यों में इनके भी रूप होते हैं, जहाँ जैसा प्रवाह।

जो विदेशी भाषाओं के शब्द हिन्दी में घुल-मिल गये हैं, उनसे भी नामधातु बना लेते हैं—'तौ चित खरो सकात' –शक करता है, शक में पड़ जाता है। 'कहलाने एकत बसत'—काहिल होकर, सुस्त। 'काहिल' से 'कहलाना' क्रिया और उससे फिर कृदन्त 'न' प्रत्यय करके 'कहलानो' विशेषण। उसका बहुवचन 'कहलाने'। इसी प्रकार नामधातु से सब प्रत्यय होते हैं। नामधातु में 'आ' बढ़ा रहता है प्रायः—सरसात, सकात, हरियात, सुखात, आदि।

संयुक्त-क्रिया

कई मूल क्रियाएँ मिल कर भी एक क्रिया बनती है। 'होना' क्रिया सभी क्रियाओं में है और अप्रत्यक्ष रूप से (सकर्मक क्रियाओं में) 'करना' भी। 'रामः तिष्ठति'–राम खड़ा होता है।

यों 'होना' है। 'रामः जपति'—'राम जप करता है'। इस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सब क्रियाओं में 'होना' (और सकर्मकों में 'करना' भी) अवश्य है। ये दोनों सब क्रियाओं में अपनी सत्ता तो रखती हैं; पर दखल नहीं देतीं। अर्थ उन क्रियाओं का ही रहता है सामने। इन सहायक 'होना' और करना क्रियाओं के कारण उनके अर्थ में कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हो जाता है। इसीलिए ये सब क्रियाएँ 'संयुक्त क्रियाएँ' होने पर भी वैसी नहीं समझी जातीं। कहीं विशेष अर्थ भी हो जाता है।

जब किसी सहायक क्रिया की उपस्थिति से प्रधान क्रिया के अर्थ में कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन होता है, तब उनकी ओर सब का ध्यान जाता है और वे 'संयुक्त क्रियाएँ' कहलाती हैं। इन सहायक क्रियाओं से विविध अर्थों का संसर्ग मूल या प्रधान क्रिया के अर्थ में हो जाता है।

कभी-कभी 'होना' क्रिया भी विशेष अर्थ पैदा करती है। विशेष अवस्था में। 'कैसे ह्वै है खात कन्हैया बिन माखन उत रोटी' यहाँ 'खात' वर्तमान काल की क्रिया है; पर भविष्यत्काल की 'होना' क्रिया 'ह्वै है' सहायक है। भविष्यत् सदा ही अनिश्चयात्मक या सन्देहपूर्ण होता है। इसीलिए यहाँ प्रधान क्रिया 'खात' वितर्कात्मक हो गयी; सन्देह है, कोई निश्चय नहीं। 'खात है' में भी 'है' है; पर यहाँ सन्देह नहीं है। भूतकाल की क्रिया में भी यदि 'होना' का भविष्यत् रूप लग जाय, तो सन्देह प्रकट होता

है, निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव रहता है—'पढ़ी होयगी पोथी'। 'पढ़ी' भूतकाल में 'होयगी' भविष्यत् काल का रूप लग जाने से निश्चय में रुकावट। इन रूपों को ही हिन्दी-व्याकरणों में 'सन्दिग्ध भूत' और 'सन्दिग्ध वर्तमान' का नाम देकर वर्तमान और भूतकाल के भेदो में रखा है! परन्तु यहाँ न तो वर्तमान सन्दिग्ध है, न भूत। काल तो निश्चयात्मक रूप से वर्तमान और भूत मालूम देते हैं; पर क्रिया में सन्देह है। इस लिए, इन्हें काल-भेदों में न रख कर क्रिया के विशेष भेदों में—संयुक्त क्रिया के प्रकरण में—रखना चाहिए।

यहाँ 'होना' का प्रयोग प्रधान या प्रकृत क्रिया के बाद है। अन्य क्रियाएँ भी इसी प्रकार प्रधान क्रिया के बाद ही लगती हैं। और उस (प्रधान क्रिया) का रूप ठीक वैसा ही प्रयुक्त होता है जैसा पूर्वकालिक क्रिया का। 'ऊधव, तुम भौं कहा करि जैहो'। यहाँ 'करना' मुख्य क्रिया है, 'जाना' सहायक। 'जाना' का अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, न 'करि' पूर्वकालिक क्रिया ही है—'क्या करोगे', और फिर 'जाओगे' यह मतलब नहीं है। 'करना' ही प्रधान है। 'जाना' लगाने से आशङ्का प्रकट होती है। भगवान् जाने, क्या कर गुजरोगे।

'ह्वै गयो और को औरै' यहाँ 'होना' मुख्य क्रिया है, और 'जाना' क्रिया सहायक है। इस सहायक क्रिया से आकस्मिकता या अप्रत्याशित घटना प्रतीत होती है। 'गयो पढ़ि सबै वेद सो बालक' यहाँ 'पढ़ना' प्रधान क्रिया का बहुत जल्द होना प्रतीत

होता है। सहायक क्रिया 'जाना' वहाँ आकस्मिकता प्रकट करती थी, यहां शीघ्रता।'

'करि चुकिहौं तब लौं सब काज' यहां 'करना' मुख्य क्रिया की निःशेषता सहायक क्रिया 'चुकना' से प्रकट होती है। सब काम पूरी तरह से हो चुकेंगे। 'पढ़ि चुकत हौं ग्रन्थ अब लौं नित्य ही द्वै बार' यहां वही चीज भूतकाल में है।

'छ्वै पायो तुव अंचल-छोर' यहां 'छूना' मुख्य क्रिया की दुःसाध्यता 'पाना' सहायक क्रिया प्रकट करती है। इसी तरह 'देखि पैहौं प्रभु के चरन' यहाँ भी देखने की दुर्लभता प्रकट है।

इसी प्रकार विविध अर्थ सहायक क्रियाएँ ध्वनित करती हैं। सभी भाषाओं में ऐसी क्रियाएँ होती हैं। 'खड़ी बोली' में और ब्रजभाषा में तो बहुत ज्यादा ऐसे प्रयोग होते हैं। सब स्पष्ट है। विस्तार करना अनावश्यक है।

ऊपर जो उदाहरण दिये हैं, उनसे ज्ञात हुआ कि अभीष्ट काल पुरुष तथा वचन आदि का द्योतन सहायक क्रिया के द्वारा ही होता है। 'पढ़ि लियो सो ग्रन्थ' पुल्लिङ्ग एक वचन, भूत-काल। 'पढ़ि लै हौं तब लौं' उत्तम पुरुष, एक वचन, भविष्यत् काल। 'पढ़ना' मुख्य क्रिया है; पर विभक्तियाँ सहायक 'लेना' क्रिया में लगी हैं।

एक बात और स्पष्ट हुई। क्रियाओं के वाच्य भी इन सहायक क्रियाओं के ही अनुसार रहते हैं। जैसा कि मूल क्रिया में समझाया था, प्रेरणा में और संयुक्त क्रिया में भी वर्तमान-भवि-

ष्यत् कालों में सब क्रियाएँ कर्तृवाच्य ही रहेंगी। भूतकाल में अकर्मक क्रियाएँ कर्तृवाच्य और सकर्मक कर्मवाच्य तथा भाववाच्य रहेंगी। और यह सब सहायक क्रियाओं के ही ऊपर है। मुख्य क्रिया तो चुपचाप इंगलैंड के बादशाह की तरह अपनी सत्ता रखेगी। देखिए—

राम वेद पढ़ि लेत है चारो, राम कथा करि लेत है सारी,

सीता पढि लेति हैं ग्रन्थ तिहारो, सबै पढ़ि लैहैं कथा उनकी से

सर्वत्र कर्तृवाच्य क्रिया है। परन्तु भूतकाल में—

राम ने है लई पढि संहिता सारी, सीता ने लियो पढि ग्रन्थ तिहारो

ये कर्मवाच्य हैं। अकर्मक कर्तृवाच्य रहेंगी ही—

राम जागि परयो, सब जागि परे सीता जागि परी

यहाँ सर्वत्र कर्ता के अनुसार क्रिया है। सहायक क्रिया में कर्ता के अनुसार पुरुष-वचन आदि हैं।

'जाना' या 'आना' जिनका अर्थ है, उन सकर्मक क्रियाओं के भी रूप भूतकाल में कर्तृवाच्य ही होते हैं, संयुक्त होने पर भी—

राम पढि गयो ग्रन्थ तिहारो, सीता पढि गयी ग्रन्थ तिहारो

सो सब स्पष्ट है। किसी-किसी संयुक्त क्रिया से सातत्य प्रकट होता है, क्रिया का लगातार होना। जैसे—

'सुन्यो करति हौं हूँ निज स्रौननि, करत कान्ह माखन की चोरी' 'पढ़यो करत नित माधव मोसों'

इन उदाहरणों से प्रकट है कि ऐसे स्थल में मुख्य क्रिया का

रूप (पूर्वकालिक की तरह) इकारान्त नहीं; बल्कि भाववाच्य 'य' 'प्रत्यय' के साथ है। खड़ी बोली में भी—'सुना करता हूँ' 'पढ़ा करती है' इत्यादि 'सुना' और 'पढ़ा' भावे प्रत्यय होता है। प्रत्येक पुरुष, वचन और काल में वही 'सुन्यो' (खड़ी बोली में 'सुना') रहेगा, बदलेगा नहीं। 'पढ्यो' और 'सुन्यो' की तरह खड़ी बोली का 'पढ़ा' और 'सुना' भी भाववाच्य य-प्रत्ययान्त है सदा एक वचन पुल्लिङ्ग। अनेक स्वरवाली धातुओं से परे 'य' का लोप हो जाता है, आ परे होने पर। एक स्वर में बना रहता है—आया करती थी, किया करते थे, धोया करेगी, इत्यादि। सहायक क्रिया में विवक्षित सब भेद प्रदर्शित होगा। 'पढ्यो करि है, आदि भविष्यत् काल में भी प्रयोग होते हैं। पढ़ने का जारी रहना द्योतित है। 'सुन्यो करति' में सदा सुनते रहना।

ऐसे प्रयोग भूतकाल में भी देखे जाते हैं—'पढ्यो कर्यो' पढ़ता ही गया। 'सुनत रह्यो' 'पढ़त रह्यो' ऐसे प्रयोग भी होते हैं।

कभी-कभी इच्छा प्रकट करने के लिए—'पढ़न चहत मैं'। ऐसे प्रयोग होते हैं। यानी मुख्य क्रिया का रूप भाववाच्य 'न' के साथ। खड़ी बोली में भी—'मैं पढ़ना चाहता हूँ।' परन्तु भाववाच्य 'य' प्रत्यय भी होता है—'पढ्यो चहत मैं'

इसी तरह की और बातें हैं। सब के लक्षण-निर्देश नहीं दिये जा सकते।

भूतकाल में क्रिया की वर्तमानता

कभी-कभी संयुक्त क्रिया के ऐसे भी प्रयोग होते हैं, जिनसे

भूतकाल तथा उसमें क्रिया की वर्तमानता (या विद्यमानता) प्रकट होती है—क्रिया का जारी रहना प्रतीत होता है।

'पढ़त रह्यो जब मैं काशी, तब वै उतै पधारे'

खड़ी बोली में—

'जब मैं काशी में पढ़ता था, तब वे वहाँ पधारे।'

'रह्यो पढ़त' 'पढ़त रह्यो' या 'पढ़ता था' संयुक्त क्रिया के रूप हैं। मुख्य क्रिया 'पढ़ना' और सहायक 'होना'। मुख्य क्रिया का रूप वर्तमान काल का है और सहायक का भूतकाल का मुख्य क्रिया में जो वर्तमान काल का सूचक 'त' प्रत्यय है, उससे 'पढ़ना' क्रिया का जारी रहना ध्वनित होता है, और सहायक 'रह्यो' या 'था' से भूतकाल जान पड़ता है। यानी, उस समय वे काशी पधारे, जब मैं वहाँ पढ़ रहा था।

इसे ही हिन्दी-व्याकरणों में 'अपूर्ण भूत काल' कहा गया है, जो भूल है। काल (भूत) पूरा है, पूर्ण है, अपूर्ण नहीं। 'था' सहायक क्रिया भूतकाल की पूर्णता प्रकट करने के लिए ही आती है—राम गया था, वह वहाँ था, इत्यादि। यहाँ 'पढ़ता था' में भी वह पूर्ण भूतकाल में है। इसलिए 'अपूर्ण भूतकाल' कहना उचित नहीं है। हां, उस भूतकाल में 'पढ़ना' क्रिया जारी थी, जो मुख्य क्रिया के 'त' प्रत्यय से प्रकट है। यह प्रत्यय वर्तमान काल में (कर्तृवाच्य) होता है, जैसा कि आगे विस्तार से मालूम होगा। उसी काल में 'जाना' क्रिया पूरी हो गयी, वहाँ पहुँच गये, इसीलिए 'पधारे'

है। इसका जारी रहना विवक्षित नहीं है। यदि दूसरी ऐसी क्रिया का भी जारी रहना विवक्षित हो, तो उसी तरह वर्तमान काल के प्रत्यय 'त' या 'ता' के साथ प्रयोग होगा—

'मैं पढ़ता था, तब तुम आते थे,

'मैं रह्यो पढ़त, तब तुम आवत रहे'

यहां दोनों वाक्यों में दोनों क्रियाएँ भूतकाल में जारी हैं, पढ़ना भी और आना भी।

यदि भूतकाल मे क्रिया का जारी रहना विवक्षित न हो, तब वर्तमान का 'त' प्रत्यय न लगेगा; बल्कि भूतकाल का 'य' प्रत्यय लगेगा—

'जहाँ मैंने पढ़ा था, वहां राम गये, जहां पढ्यो मै, राम गये तहँ'

'पढ़ना' क्रिया सकर्मक होने पर भी, कर्म विवक्षित न होने से, यहाँ अकर्मक प्रयोग है और अकर्मक होने से 'य' भूतकाल में यहाँ 'कर्तृप्रधान' (कर्तृवाच्य) है। पढ़ना अथवा जाना क्रिया का जारी रहना विवक्षित नहीं है; वे पूर्ण होगयी हैं। पढ़ भी चुका और दूसरा पहुँच भी गया। इसी को व्याकरणों में 'पूर्ण भूतकाल' कहा गया है।

भूतकाल में सर्वत्र 'य' प्रत्यय रहेगा—किया, कियो, इत्यादि। 'की' 'ली' आदि में वह लुप्त है। 'खड़ी बोली' में 'देखा' 'पढ़ा' आदि में 'य' का लोप हो गया है। 'देख्या' और 'पढ्या' आदि बोलने में असुविधा तथा बेढँगापन है। इसीलिए भाषा के प्रवाह ने इस ऊबड़खाबड़ स्थल को काट-घिसकर 'पढ़ा'

'देखा' आदि बना लिया। इसी को लोप कहते हैं। पंजाब में कहीं-कहीं पढ़या' 'देख्या' आदि बोलते भी हैं!

और भी ऐसे ही अनेक प्रयोग-भेद क्रियाओं के हैं, जिनसे विशेष—विशेष अर्थों की प्रतीति होती है। सो सब प्रयोग देखने से ही समझ में आ जाता है।

'य' प्रत्यय एक भूतकाल में कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य होता है। दूसरा 'य' भाववाच्य होता है, कालपुरुष आदि से रहित। यह सब कृदन्त प्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा जायगा।

क्रिया के दो महत्त्वपूर्ण प्रयोग-भेद

क्रिया के अनेक तरह से अनेक भेद बतलाये गये, वाच्य-भेद से, अर्थ-भेद से, सकर्मक-अकर्मक भेद से। अब दो ऐसे भेद इस अध्याय में हम बतलायेंगे, जो भाषा-विज्ञान अथवा भाषा के क्रम-विकास से संवलित हैं।

संस्कृत में प्रयोग-भेद से या प्रत्यय-भेद से क्रिया के 'तिङन्त' और 'कृदन्त' ये दो भेद किये गये हैं। दोनों जगह क्रियाओं के सब वाच्य होते हैं। 'कृदन्त' 'तिङन्त' और 'तद्धित' शब्द संस्कृत व्याकरण में अन्वर्थ अथवा यौगिक हैं। यहाँ (हिन्दी-व्याकरण) में इन शब्दों को रूढ़ि मात्र में प्रयुक्त समझिए। इनका योगार्थ यहाँ घटित नहीं है। 'पठति' आदि संस्कृत क्रियाओं में ही 'तिङ्' प्रत्यय है और वहीं कुछ प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा है, जिनसे क्रियाओं को संज्ञा का सा रूप मिल जाता है। सो सब कृदन्त प्रकरण में ही विस्तार से बतलाया जायगा।

यहाँ हम क्रिया के जिन दो भेदों का उल्लेख करेंगे, उन्हें समझाने के लिए, पाठकों की सुविधा की दृष्टि से, उदाहरण 'खड़ी बोली' के ही देंगे, क्योंकि ऐसी प्राय: सब बातों में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का व्याकरण एक ही है। केवल 'ा' और 'ो' का कहीं-कहीं अन्तर है। सो कोई अस्पष्ट चीज नहीं है। जहाँ खड़ी बोली से ब्रजभाषा में कोई अन्तर होगा, वहाँ पृथक् उल्लेख कर ही दिया जायगा।

हम कह चुके हैं कि 'कृदन्त' प्रकरण अलग लिखा जायगा। यहाँ 'तिङन्त' और 'कृदन्त' का भेद भर समझाया जाय गा।

तिङन्त क्रियाएँ

'तिङन्त' उन क्रियाओं को कहते हैं, जिनमें पृथक् पृथक् 'पुरुष' भी अभिव्यक्त होते हैं; पर लिङ्ग-भेद स्पष्ट नहीं होता। इसे यों भी कह सकते हैं कि तिङन्त क्रिया में वचन के साथ-साथ 'पुरुष' भी प्रकट हो जाता है; पर लिङ्ग-भेद स्पष्ट नहीं होता। ऐसी क्रियाओं में जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे उनसे सर्वथा भिन्न होती हैं, जो संज्ञा आदि में (कारक आदि बनाने के लिए) काम आती हैं। 'पठसि किम्' इससे मध्यम पुरुष जान पड़ता है; पर (कर्ता) पुल्लिङ्ग है, या स्त्रीलिङ्ग; सो नहीं जान पड़ता। उसके लिए पृथक् निर्देश करना पड़ता है। इसी प्रकार 'पठामि' से उत्तम पुरुष, एक वचन प्रतीत होता है; लिङ्ग कोई नहीं। 'सि' या 'मि' विभक्ति उन (सु, औ, जस् आदि) से भिन्न हैं, जो संज्ञा आदि के साथ लगती हैं।

हिन्दी में, प्रश्न, आज्ञा या विधि आदि में 'तिङन्त' क्रियाएँ प्रयुक्त होती हैं—'राम करे'। क्या करूँ इससे उत्तम पुरुष एक वचन प्रतीत होता है, लिङ्ग कोई स्पष्ट नहीं। 'काम करो' यहाँ 'करो' से मध्यम पुरुष बहुवचन प्रतीत होता है, लिंग कोई नहीं। 'काम कर' में 'कर' से मध्यम पुरुष, एक वचन। लिंग-भेद स्पष्ट यहाँ है नहीं। पुरुष और स्त्री दोनों—राम करे, स्त्री करे,

स्त्री से भी 'तू कर' और पुरुष से भी 'तू कर'। स्त्री भी कहेगी—'मैं करूँ' और पुरुष भी। इन क्रियाओं में जो विभक्तियाँ लगी हैं, वे उनसे भिन्न हैं, जो (ने, को आदि) संज्ञाओं में काम आती हैं। एक वचन और बहुवचन प्रकट करने के लिए भी क्रिया संज्ञा का अनुकरण नहीं करती। 'बच्चा का बहुवचन 'बच्चे'। परन्तु 'करे' का बहुवचन 'करें'—केवल अनुस्वार से। 'कर' का 'करो'। संज्ञा का यहाँ कोई सम्पर्क-सहयोग नहीं है। यहाँ 'इ' विभक्ति है, जो विभिन्न पुरुषों और वचनों में कुछ परिवर्तित हो गयी है। वह परिवर्तन पुरुष-भेद या वचन-भेद प्रकट करने के लिए।

ऐसी (तिङन्त) क्रियाएँ हिन्दी में बहुत कम हैं। विधि, आज्ञा, प्रश्न आदि में 'करे'—'करूँ' आदि और या फिर (ब्रज-भाषा में) भविष्यत् काल में—'इहै' प्रत्यय लगा कर।

'जैहै राम मधुपुरी' आदि में 'जैहै' यह भविष्यत् काल का प्रयोग तिङन्त है और 'इहै' विभक्ति कुछ परिवर्तनों से विभिन्न पुरुष तथा वचन प्रकट करती है; पर लिंग-भेद स्पष्ट नहीं।

करिहौं (उत्तम पुरुष, एकवचन) करिहौ (मध्यम पुरुष, बहुवचन)

स्त्रीलिंग-पुल्लिग में 'करिहौं' और 'करिहौ' समान प्रयोग हैं। इसी तरह—'राम करिहैं' 'सीता करिहैं'। कोई अन्तर नहीं, पुल्लिंग-स्त्रीलिंग में। कर्ता को देख कर क्रिया पुल्लिंग या स्त्रीलिंग कही जायगी। हिन्दी की ये तिङन्त क्रियाएँ 'कर्तृवाच्य' ही प्रयुक्त होती हैं, कर्ता के ही अनुसार रहती हैं, अकर्मक-सकर्मक सभी।

'कहियत' 'सुनियत' आदि कुछ क्रियाएँ वर्तमान काल में भी हैं तिङन्त; पर कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य नहीं; सब भाव-वाच्य। इनकी सख्या कम है।

कृदन्त क्रियाएँ

हिन्दी में कृदन्त क्रियाएँ ही सब से ज्यादा हैं। वर्तमान काल और भूत काल में प्रायः सब क्रियाएँ कृदन्त ही प्रयुक्त होती हैं। इनके भेद विस्तार से 'कृदन्त प्रकरण' मे देंगे; यहां साधारण परिचय।

हमने कहा कि ब्रजभाषा में भविष्यत् काल की 'इहै' विभक्ति लगा कर बननेवाली क्रियाएँ तथा विधि-प्रश्न आदि सूचित करने वाली 'करे' 'करूँ' आदि क्रियाएँ ही तिङन्त हैं, बाकी सब कृदन्त। इसका विवरण लीजिए।

राम पढ़ता है, तुम पढ़ते हो, मैं पढ़ता हूँ,

यहां 'पढ़ना' क्रिया कृदन्त है, जो सहायक क्रिया 'है' के सहारे पुरुष-वचन प्रकट करती है। यदि 'है' का प्रयोग न हो,

तो उससे पुरुष आदि प्रतीत न होंगे। संस्कृत में भी ऐसी (कृदन्त) क्रियाओं के पुरुष आदि की अभिव्यक्ति सहायक क्रिया के द्वारा ही होती है। 'स्था' धातु से 'त' (क्त) प्रत्यय (कर्तृवाच्य) लगा कर 'स्थित' रूप हुआ, जिससे कोई भी पुरुष नहीं जान पड़ता। 'स्थितः' कह देने से काम न चलेगा, जब तक कर्ता अथवा सहायक क्रिया न लगे। 'त्वं स्थितः' या 'स्थितोऽसि' कहना ही होगा। 'स्थितोऽसि' कह देने से 'त्वं' लगाने की उतना जरूरत नहीं रहती; क्योंकि (सहायक) क्रिया 'असि' तिङन्त है और उसकी 'सि' विभक्ति से मध्यम पुरुष, एक वचन स्पष्ट व्यक्त होता है। इस प्रकार 'स्थितोऽसि' में मुख्य क्रिया 'स्थितः' कृदन्त और उसकी सहायक तिङन्त है। प्रधान क्रिया से ही व्यपदेश होता है; इसलिए 'स्थितोऽसि' को एक ही शब्द में कहना होगा, तो कृदन्त क्रिया कहा जायगा और व्याख्या में कहा जायगा—'कृदन्त क्रिया है, तिङन्त 'असि' के सहयोग से'।

'स्थितः' से कोई विशेष लिङ्ग नहीं मालूम होता, पर संज्ञा की तरह उसमें प्रत्यय लग कर वह सब प्रकट किया जाता है—स्त्री स्थिता, फलं स्थितम्, पुरुषः स्थितः।

हिन्दी की वर्तमान और भविष्यत् ('गा' लगा कर) तथा भूतकाल की सब क्रियाएँ कृदन्त ही हैं। तिङन्त के कहीं दर्शन नहीं होते। राम पढ़ता है, लड़के पढ़ते हैं

'पढ़' धातु से कृदन्त 'त' प्रत्यय हुआ, कर्तृप्रधान। फिर उस

में संज्ञा-विभक्ति 'आ' लगी, तब 'पढ़त' का 'पढ़ता' हुआ। स्त्रीलिंग में 'ई' प्रत्यय—'पढ़ती'। संस्कृत के 'स्थितः' और 'स्थिता' की तरह। इस के एक वचन और बहु वचन संज्ञा की ही तरह होंगे, उन्हीं विभक्तियों से। आकारान्त पुलिंग संज्ञा का एकवचन (खड़ी बोली) में वैसा ही रहता है और बहुवचन में 'आ' को 'ए' हो जाता है–लड़का–लड़के। 'पढ़ता' क्रिया 'लड़का' की तरह है; इस लिए इस का बहुवचन बनाने में भी 'पढ़ता' का 'पढ़ते'। संस्कृत में भी जो क्रिया जिस संज्ञा की तरह होती हैं, उसके वचन आदि बनाने में वही विभक्तियाँ लगती हैं—'स्थित' 'राम' की तरह और 'स्थिता' 'रमा' की तरह चलेगी। सो, 'पढ़ता' का बहुवचन 'लड़का' की तरह बनेगा—पढ़ते—लड़के। स्त्रीलिङ्ग में 'पढ़ती'।

पढ़ता, करता, धोता, नहाता, गाता बजाता, इत्यादि वर्तमान-कालिक कर्तृवाच्य 'त' प्रत्ययान्त कृदन्त क्रियाएँ बनीं; जिन्हें पुरुष आदि व्यक्त करने के लिए सहायक क्रिया की जरूरत है। सभी क्रियाओं की सहायक 'होना' क्रिया है, जो सब में अन्तर्हित रहती है, उन्हीं के अर्थों के साथ मिल कर। वही समय पर (भगवान् की तरह) प्रकट हो कर भी सहायता करने लगती है। सो, इस होना क्रिया के विभिन्न कालों तथा पुरुषों के रूप 'है' तथा 'था' आदि इन सब 'कृदन्त' क्रियाओं की सहायता करते हैं, पुरुष-वचन तथा लिङ्ग आदि प्रतीत कराने के लिए।

राम पढ़ता है—बच्चे पढ़ते हैं। तू पढ़ता है—तुम पढ़ते हो। मैं पढ़ता हूँ—हम पढ़ते हैं।

'पढ़ता हूँ' और 'पढ़ते हो' में जो उत्तम तथा मध्यम पुरुष की प्रतीति है, सो इसी सहायक क्रिया 'होना' के बल पर। 'पढ़ता हूँ' कह देने से 'मैं' को पृथक् देने की जरूरत नहीं। 'हूँ' से ही वह स्पष्ट है। स्त्री-लिङ्ग में 'लड़की पढ़ती है'।

यों पुल्लिङ्ग और स्त्री लिंग में क्रिया का रूप—भेद हुआ, जो 'कृदन्त' क्रिया की पहचान है।' वचन' बनाने में भी संज्ञा की विभक्ति लगी। मुख्य क्रिया का अपना रूप सब पुरुषों में समान है—

राम 'पढ़ता' है। बच्चे पढ़ते हैं।

मैं पढ़ता हूँ, हम पढ़ते हैं

तू पढ़ता है. तुम पढ़ते हो।

बहु वचन में सर्वत्र 'ता' को 'ते' हो गया है; पर पुरुष—भेद कुछ नहीं। इसी तरह संस्कृत में भी—

१—रामः स्थितः अस्ति १—बालकाः स्थिताः सन्ति।

२—त्वं स्थितः असि, २—यूयं स्थिताः स्थ।

३—अहं स्थितः अस्मि, ३—वयं स्थिताः स्मः।

'स्थित' का बहुवचन सर्वत्र 'बालकाः' की तरह 'स्थिताः' हो गया है; पर पुरुष-भेद कुछ नहीं। वह 'अस्' के विविध रूपों से प्रकट होता है, जो सहायक क्रिया है। यही बात हिन्दी की वर्तमान काल की क्रियाओं में सर्वत्र है।

सो, करता है, पढ़ता है, करता हूँ, इत्यादि में मुख्य क्रियाएँ —'करता पढ़ता' — कृदन्त 'त' प्रत्ययान्त हैं और वे सब 'होना' क्रिया की सहायता से पुरुष आदि प्रकट करती हैं।

इसी प्रकार भूतकाल की सब क्रियाएँ कृदन्त हैं, जिनमें 'य' प्रत्यय लगता है। जैसा कि कहा गया है, अकर्मक क्रियाओं में 'य' कर्तृवाच्य और सकर्मकों से कर्मवाच्य तथा भाववाच्य स्पष्ट है। 'जाना' या 'आना' अर्थ रखने वाली सकर्मक धातुओं से भी कर्तृवाच्य ही 'य' प्रत्यय होता है। ये 'य'-प्रत्ययान्त सब क्रियाएँ वचन आदि में संज्ञा की ही तरह चलती हैं। वे ही विभक्ति लगती हैं। देखिए—

लड़का गया, लड़के गये। तू गया, तुम गये

सब जगह बहु वचन में 'ए' है; पर पुरुष प्रकट करने के लिए कुछ नहीं है। वह तो तिङन्त की विभक्तियों की चीज है। यदि कर्ता 'लड़का' 'तू' 'मैं' हटा लिये जायँ, तो फिर पुरुष प्रकट हो ही नहीं सकता। 'गतः' के साथ जब तक 'रामः' 'त्वम्' या 'अहम्' न जोड़ें, 'पुरुष' प्रतीत न होगा। परन्तु तिङन्त क्रिया 'तिष्ठामि' के साथ 'अहम्' लगाने की जरूरत नहीं; न 'अतिष्ठम्' के साथ। हिन्दी में भूतकाल की सब क्रियाएँ कृदन्त ही हैं। तिङन्त वर्तमान में केवल 'होना' क्रिया है, जो काम चलाती है; मजे के साथ। कोई दिक्कत नहीं। पर भूतकाल में वह भी कृदन्त ही है:—'था'।

पूर्ण भूतकाल में 'होना' का (भूतकाल का) रूप 'था' लगा

दिया जाता है—गया था। बहुवचन में 'था' का उसी तरह 'थे' हो जाता है, जो कृदन्त की निशानी है। 'था' का स्त्रीलिंग रूप भी 'थी' होता है। इससे भी प्रकट हुआ कि 'होना' क्रिया का यह भूतकाल में रूप कृदन्त है, तिङन्त नहीं। वर्तमान काल का 'है' अवश्य तिङन्त है, जो स्त्रीलिंग में भी वैसा ही रहता है। 'पढ़ा' आदि में वही 'य' कृदन्त प्रत्यय है, जिसका लोप हो गया है। स्त्रीलिंग में 'पढ़ी' हो जाय गा।

यह जो भूतकाल में 'य' प्रत्यय है, सो संस्कृत 'त' (क्त) का ही रूपान्तर है - कृत, किय, किया। 'था' भी 'अस' के 'ह' के साथ 'त' प्रत्यय से 'हत' हो कर संज्ञा की तरह 'हता' होता हुआ वर्ण-विपर्यय से 'तहा' हुआ और 'त' के 'अ' का लोप हो कर 'त् हा' मिल कर 'था' हो गया। बहुवचन में संज्ञा-विभक्ति की तरह 'थे' और स्त्रीलिंग 'ई' से 'थी' रूप बना।

इस तरह स्पष्ट है कि भूतकाल में 'होना' सहायक क्रिया (था) भी कृदन्त ही है। 'रह्यो' भी 'होना' (अस्) का ही रूप है, और यह भी कृदन्त है। तभी तो बहुवचन में 'रहे' और स्त्रीलिङ्ग में 'रही' होता है। देखिए—

रह्यो रघुनाथ, रहे सब, रह्यो तू (तू रहा) रहे तुम
रह्यो मैं (मैं रहा) रहे हम

सर्वत्र वचन-भेद है; पर पुरुष-भेद नहीं। सर्वत्र 'रह्यो' और 'रहे'; इसलिए कृदन्त। स्त्रीलिंग में संज्ञा की तरह 'रही' रूप होता है। यह भी कृदन्त में ही सम्भव है।

यों वर्तमान काल की हिन्दी-क्रियाएँ कृदन्त हैं, जिनमें 'होना' क्रिया का वर्तमान काल का तिङन्त रूप 'है' लगता है। परन्तु भूतकाल में प्रधान क्रिया की ही तरह सहायक (होना) का भी भूतकालिक कृदन्त रूप 'था' लगता है। यहाँ सहायक भी तिङन्त नहीं।

भविष्यत् काल में अवश्य तिङन्त रूप हैं—'पढ़िहौं' आदि।

'गा' लगा कर भी भविष्यत् काल के रूप बनते हैं—

राम जायगा। राम जाइगो (ब्रजभाषा)।

सीता जायगी (उभयत्र)

सो, यहां तिङन्त-कृदन्त का सम्मिश्रण है। 'पढ़ूंगा' 'पढ़ोगे, कहने से उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष की प्रतीति होती है; क्योंकि यहाँ तिङन्त विभक्ति 'इ' काम कर रही है। 'इ' उस संज्ञा विभक्ति 'इ' से भिन्न है। इससे 'पढ़=इ+'पढ़े' हो गया और बहुवचन में तिङन्त क्रिया में अनुस्वार लगती ही है—'पढ़ें'। सो, बहुवचन भी तिङन्त-पद्धति से हुआ, संज्ञा-पद्धति से नहीं। उत्तम पुरुष एक वचन में और मध्यम के बहुवचन में रूप इस का परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार यह एक तिङन्त क्रिया है। परन्तु इसमें लगी सहायक क्रिया 'गा' तो कृदन्त ही है, जिस का बहुवचन 'गे' और स्त्रीलिङ्ग 'गी' संज्ञा की तरह होता है। ब्रजभाषा में भी संज्ञा की ही तरह 'ओ' हो जाता है 'जाइगो'। बहुवचन तथा स्त्रीलिंग भी (ब्रजभाषा में भी) संज्ञा की ही तरह

हैं। इससे सिद्ध हुआ कि यह 'गा' सहायक क्रिया कृदन्त है।

परन्तु 'गा' किस क्रिया का रूप है, सो समझ में नहीं आया 'गया' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। हो सकता है, कोई क्रिया पहले प्रचलित हो, जिसका कृदन्त रूप सहायक क्रिया की तरह काम में लाया जाने लगा हो और मुख्य क्रिया के रूप में उसका प्रयोग विरल हो कर कालान्तर में लुप्त हो गया हो।

कुछ भी हो, 'गा' किसी क्रिया का कृदन्त रूप है, जो सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त होने लगा और अब उसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं दिखायी देता; इसलिए विभक्ति-मात्र समझी जाने लगी है। इस प्रकार क्रियाओं के रूप लुप्त होते रहते हैं। 'जा' धातु के भूतकाल में और 'ग' के वर्तमान तथा भविष्यत् काल में रूप नष्ट हो गये। हिन्दी की 'जाना' क्रिया (जा) धातु संस्कृत की 'या' है, जिसका 'याति' रूप होता है। हिन्दी में 'या' आ कर 'जा' बन गया और 'ता' प्रयत्य के साथ 'जाता है' आदि रूपों में चल रहा है। भविष्यत् काल में 'जायगा, विधि आदि में 'जाय'। परन्तु भूतकाल में इसके रूप नहीं हैं। हिन्दी ने भूत- में 'ग' (गम्) के रूप रखे—'य' प्रत्यय लगा कर 'गया आदि। इस 'ग' के वर्तमान तथा भविष्यत् आदि में रूप नहीं। मालूम नहीं; पहले से ही दोनों का यह विषय-विभाग है, या बाद में, अनावश्यक होने के कारण, लुप्त हो गये। 'भविष्यति' से काम चल जाने के कारण ही शायद 'अस्' धातु के (संस्कृत में) भविष्यत् काल के रूप लुप्त हो गये हों। सो, 'गा' के मूल प्रयोगों

का यदि पता नहीं लगता, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहीं तो धातु बिलकुल ही उड़ गयी है और उपसर्ग ही उमके आसन पर जम बैठा है। 'जाता है' में 'जा' (या) धातु है। गमनार्थक धातु में 'आ' उपसर्ग लगने से 'आना' अर्थ हो जाता है। हिन्दी में 'आना' क्रिया में 'आ' धातु है, जो संस्कृत का वह उपसर्ग ही है। धातु ('या') अपने अर्थ-अधिकार इसे सौंप कर शायद लुप्त हो गयी। इसी तरह की अनेक बातें हैं।

इस प्रकार आप ने देखा कि तिङन्त क्रियाओं से 'पुरुष' भी प्रकट हो जाते हैं, जो हिन्दी में केवल 'होना' के वर्तमान काल 'है' में तथा विधि आदि को 'कहे' 'करूँ' 'करो' में है। शेष सर्वत्र कृदन्त क्रियाएँ हैं। कृदन्त क्रियाएं और भी बहुत तरह से प्रयुक्त होती हैं. जो उसी प्रकरण में स्पष्ट की जायँगी।

आपने देखा कि कृदन्त क्रियाएं संज्ञा की ही तरह प्रयुक्त होती हैं. और उनसे 'पुरुष' की प्रतीति नहीं होती। स्पष्टता के लिए हम तिङन्त क्रियाओं को पुरुषप्रधान तथा कृदन्तों को 'संज्ञा-कल्प' कह सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि हिन्दी में कृदन्त क्रियाएँ ही क्यों अधिक प्रचलित हुईं? तिङन्त क्यों नहीं बनीं, या रहीं?

इसका उत्तर दिया जा सकता है। सस्कृत की तिङन्त क्रियाओं में रूप—भेद बड़ा जटिल है—

अकरोत्	अकुरुताम्	अकुर्वन्
अकरो	अकुरुतम्	अकुरुरुत
अकरवम्	अकुर्व	अकुर्म

इतने विकट और बेढब रूप सँभालने की अपेक्षा छोटा सा 'कृत' कितना सुगम है। सब पुरुषों और वचनों में 'कृत' से काम चल जायगा और बहुवचन या स्त्रीलिंग बनाने में भी दिक्कत नहीं। वाक्य (संज्ञा) की तरह रपटता चला जाता है। 'पुरुष' की भी झंझट नहीं:—

त्वया कृतम्, मया कृतम्, सर्वैः कृतम्

हिन्दी में—

तू ने किया, मैंने किया, सबने किया।

सब जगह 'कृतम्' और 'किया'। वचनों में भी—

'भवनानि कृतानि; भवनं कृतम्'

हिन्दी में—

मकान बनाये, मकान बनाया।

सीधा काम है। इसीलिए जन-भाषा (हिन्दी) में प्रायः सब क्रियाएँ कृदन्त हैं। (संस्कृत में भी) तिङन्त की अपेक्षा कृदन्त बहुत मधुर हैं। यही कारण है कि उत्कृष्ट कवियों ने कृदन्त प्रयोग ही अधिक किये हैं। इस मधुरता के कारण भी हिन्दी में कृदन्त क्रियाएं अधिक आयी हैं।

चाहे जो हो, इतना स्पष्ट हुआ कि हिन्दी में प्रायः सब की सब कृदन्त क्रियाएँ हैं। कुछ थोड़ी सी विधि-प्रश्न आदि में तिङन्त हैं, जो 'पठेत्' आदि के अनुकरण पर 'पढ़े' आदि बन गयीं और रह गयीं, सरलता के कारण। आगे हम इसे और स्पष्ट करेंगे।

केवल चार विभक्तियां तिङन्त

'इ' 'ई' 'इहै' और 'इयत'

पीछे जो कुछ कहा गया, उसका निष्कर्ष यह निकला कि हिन्दी में—व्रजभाषा में—केवल चार विभक्तियाँ 'तिङन्त' की हैं, जो धातु से बिलकुल सट-मिल कर रहती हैं, और वे है 'इ' 'इ' 'इहै' तथा 'इयत'। शेष सब सहायक क्रियाएँ हैं,जो विभक्ति समझ ली गयी हैं। ये सहायक क्रियाएँ 'था' 'गा' आदि प्रकृति (धातु) में बिलकुल मिल नहीं जातीं; अपना स्वरूप पृथक् दिखाती है। इन सहायक क्रियाओं में वचन-लिंग संज्ञा की तरह होते हैं; क्योंकि ये सब कृदन्त हैं। परन्तु उपर्युक्त चारों विभक्तियाँ अपनी चाल संज्ञा से नहीं मिलातीं; न वचन-लिंग आदि में और न रूप में। इनसे 'पुरुष' और 'वचन' अपने ढंग पर अभिव्यंजित होते हैं, तिङन्त के अनुरूप। नीचे इनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा।

'इ' (वर्तमान काल)

यह वर्तमान काल का 'इ' प्रत्यय संस्कृत की 'ति' विभक्ति ;का ही घिसा हुआ रूप है। त् उड़ गया है।

'इ' विभक्ति वर्तमान काल में लगती है और सो भी केवल 'होना' धातु में। केवल 'है' इससे बनता है, जो बहुवचन में 'हैं' हो जाता है। मध्यम पुरुष के बहुवचन में यह 'इ' 'उ' बन जाती है, और गुण होकर 'हो'। व्रजभाषा में 'औ' 'तुम हौ'। उत्तम पुरुष के एक वचन में व्रजभाषा में 'हौं' और खड़ी



बोली में 'हूं' उससे बनते हैं । पुल्लिग-स्त्रीलिंग का भेद संज्ञा में रहता है और संज्ञा की तरह चलने वाली कृदन्त क्रिया में। 'इ' कृदन्त नहीं, तिङन्त विभक्ति है; अतः 'पुरुष है' और 'स्त्री है' समान। वैसे 'स्त्री है' में 'है' क्रिया कर्ता के लिहाज से स्त्रीलिङ्ग कही ही जायगी। पुरुष का गोत्र ही स्त्री में भी लग जाता है।

यों हिन्दी में यह 'इ' विभक्ति 'होना' क्रिया के 'है' आदि रूप बनाती है। परन्तु यह आयी कहाँ से? सोचने से पता लगता है कि मूल भाषा से, प्राकृत और अपभ्रंश आदि को सींचती हुई, यह 'इ' की गंगा हिन्दी में आयी है और अकेले ही इसने अनन्त काम किया है।

संस्कृत में 'अस्' धातु है, 'होने' अर्थ में। इसमें तिङन्त प्रकरण की 'ति' विभक्ति लगती है। इस 'ति' विभक्ति का 'त्' लुप्त हो गया। धातु हिन्दी में सब स्वरान्त माने गये हैं—पढ़, कर, उठ आदि। 'अस्' धातु भी हिन्दी में 'अस' अकारान्त बन कर आयी है। 'स' का 'ह' हो जाना प्रसिद्ध है, सो यहाँ भी होगा। 'अह' अपनी विभक्ति 'इ' के साथ मिल कर 'अहै' हो गयी। हिन्दी में—व्रजभाषा में 'अ' और 'इ' मिल कर 'ऐ' प्रायः होता है, 'ए' उतना नहीं। यह 'अहै' व्रजभाषा में खूब प्रसिद्ध है—'अहै इक द्विज बामन के रूप।'

कहीं कहीं 'अस्' ही रहा, स्वरान्त नहीं हुआ; पर आद्य 'अ' दीर्घ होगया और 'स' को 'ह' होगया। फिर वह आगे

'इ' विभक्ति में मिल कर 'हि' रूप में आया और 'आहि' हो गया। जानै को आहि बसै केहि गामा'। यही 'आहिं' कहीं जा कर 'आय' होगया। 'ह' का लोप और 'इ' को 'य'। 'को जानै को आय'—कौन जाने, कौन है। कहीं कहीं 'अस्' के 'अ' का लोप हो गया और 'स' आगे की विभक्ति 'इ' के साथ मिल कर (स=इ+से) 'से' बन गया। कहीं 'सै' भी बना। यही 'सै' आगे 'छै' हुआ और 'से' छे' के रूप में आया। 'अ' का लोप यहाँ (व्रजभाषा में भी) वैकल्पिक हुआ। दो रूप 'अहै' और 'है'। बाद में यह संक्षिप्त रूप 'है' अधिक चालू हुआ और मेरठी आदि बोलियों ने भी इसे ही ग्रहण किया। राष्ट्रभाषा में आज 'है' की धूम है। इसका बहुवचन अनुस्वार लगा कर बनता है, जो तिङन्त के अनुरूप है। जैसे—'अस्ति' का बहुवचन 'सन्ति' बना अनुनासिक 'न्' से, उसी तरह है' का बहु वचन अनुस्वार या अनुनासिक से बना 'हैं', जो 'न्' का ही प्रतिनिधि है।

इस प्रकार वर्तमान काल का 'इ' प्रत्यय है, जो केवल 'है' बनाता है। 'करहि राम सब काज' आदि में जो 'हि' है, सो कोई पृथक् विभक्ति नहीं है; पर विभक्ति समझ ली गयी है। विभक्ति की तरह धातु से सटाकर प्रयोग भी होता है। परन्तु वह विभक्ति नहीं, सहायक क्रिया है—'है' का संक्षिप्त रूप 'हि' और हैं का 'हिं' है। 'राम करता है, में 'है' सहायक क्रिया जैसे है, उसी तरह 'राम करहि' में भी है। 'बालक करते

हैं' में जैसे 'हैं' है, उसी तरह 'बालक करहिं' में भी है। 'है' का यह संक्षिप्त रूप 'हिं' विभिन्न पुरुष-वचनों में अपने रूप बदलता है। मध्यम पुरुष एक वचन में 'करहु' और उत्तम पुरुष में 'करहुं'। यहां और 'करता हूँ, में भी अनुस्वार या अनुनासिक उत्तम-पुरुषता प्रकट करता है। मध्यम पुरुष करहु' और उत्तम पुरुष 'करहुँ' में इस अनुनासिक का ही भेद है। सो, यह अनुनासिक भी तिङन्त का चिन्ह है। संस्कृत में उत्तम पुरुष में अनुनासिक ('मि' या 'नि') का रहना स्पष्ट है—'पठामि' 'पठानि' आदि। उसी अनुकरण पर हिन्दी 'इ' विभक्ति सानुनासिक हो कर उत्तम पुरुष को प्रकट करती है।

'पढ़ै आजु हरि नीके' आदि में 'पढ़' भी इसी 'इ' विभक्ति से युक्त है। यहाँ भी 'हि' है। 'ह' का लोप और 'अ' तथा इ' मिल कर 'ऐ'। जो 'इ' विभक्ति 'है' में लगती है, वही सीधे आकर 'पढ़ै' आदि वर्तमान काल की क्रियाओं में है, ऐसा भी कह सकते हैं। परन्तु 'करहि' आदि में जब 'है' का संक्षिप्त रूप स्पष्ट है और उच्चारण-क्रम से 'करहि' ही 'करइ' हो कर 'करै' बन गया प्रतीत होता है, तब ह-लोप के साथ यहाँ भी वह सहायक क्रिया ही प्रतीत हो, तो अधिक जँचता है। सर्वत्र 'है' क्रिया सहायक—पढ़ता है, पढ़त है, पढ़हि, पढ़इ, पढ़ै आदि। सो, 'इ' विभक्ति केवल 'अस्' में लग कर 'अहै' और 'है' बना और आगे उस के विभक्ति-रूप से प्रयोग।

'इ' विधि-प्रश्न आदि में

दूसरी भी एक विभक्ति (तिङन्त प्रकरण की) हिन्दी में 'इ' है। इसका उपयोग विधि, आज्ञा प्रश्न आदि प्रकट करने में धातु के साथ होता है। इस के भी विभिन्न पुरुष-वचनो में—करु-करो, करौ, करौं— करो आदि रूप हो जाते हैं। यह भी संस्कृत से चक्कर काटती हुई आयी है।

संस्कृत में विधि आदि में 'इय्' विभक्ति लगती है, जिस के 'पठेत्' आदि रूप होते हैं। 'इय्' से 'य' अलग हो कर 'इ' मात्र हिन्दी में आगयी और विभिन्न क्रियाओं से मिल कर उन्हीं (विधि प्रश्न आदि) अर्थों को प्रकट करती है। जिस का जो काम है, वह वही करेगा, कहीं चला जाय। 'पढ़' आदि से मिल कर व्रजभाषा में 'अ' और 'इ' मिलकर 'पढ़ै' और खड़ी बोली में 'ए' 'पढ़े' हो जाता है। मध्यम पुरुष, एक वचन में व्रजभाषा में 'उ' होता है—'न करु निरादर लौंग कौ'—और खड़ी बोली में 'इ' लुप्त हो जाती है—करु, पढ़। (संस्कृत 'पठ' आदि के ढँग पर)। उत्तम-पुरुष एक वचन में पढ़ूँ, करूँ प्रयोग प्रश्न आदि में आते हैं। पढ़े, पढ़ूँ, पढ़ आदि प्रयोग पुलिंग-स्त्रीलिंग में समान हैं।

इहै, भविष्यत् काल की विभक्ति

'इहै' व्रजभाषा मे भविष्यत् काल की 'तिङन्त' विभक्ति है—पढ़िहैं, करिहै आदि। इसके भी रूप पुरुष वचनों मे तिङन्त-विधि से बदलते हैं, और दोनो लिङ्गों मे समानता रहती है—राम करिहै, सीता करिहै। धातु से सट कर भी

'इहै' रहती है, जो तिङन्त विभक्ति का लक्षण है। करिहै, करिहैं, आदि पुरुष—भेद सो। धातु के अन्त्य स्वर का लोप हो कर 'इहै' से मिल जाना स्पष्ट है। जो धातु अकारान्त नहीं, वहाँ 'इहै' प्रत्यय के 'इ' का ही लोप हो जाता है। 'पैहै' 'जैहै' में जा-इहै+जैहै। इसी तरह धातु के रूप गा, जा, आदि रह कर 'आ' और 'इ' मिल कर 'ऐ'। जो भी हो, व्रजभाषा में यह 'इहै' तिङन्त प्रकरण की विभक्ति है।

अब इसके वंश की खोज कीजिए। आयी कहाँ से ? है कौन ?

विचार करने से ज्ञात होता है कि संस्कृत में 'करिष्ये' आदि आत्मनेपदी क्रियाओं के भविष्यत् काल रूप में जो 'इष्ये' लगता है, वही 'इहै' बन कर यहां आ गया है।

व्रजभाषा में संस्कृत के ष और श का 'स' हो जाना प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष है—प्रावृष्—पावस, शाक—साग आदि। इसी तरह 'इष्ये' प्रत्यय के 'ष्' को 'स्' हो गया और 'य्' का लोप होगया; क्योंकि समस्थानीय स्वर 'ए' में मिल कर स्पष्ट श्रुत नहीं होता। 'इसे' बन जाने पर 'स्' को 'ह्' हो गया। भाषा में 'स' का 'ह' हो जाना सर्व-प्रसिद्ध है। यह 'इहे' व्रजभाषा में 'इहै' होगया; क्योंकि यहाँ 'ए' की अपेक्षा 'ऐ' की ओर ही अधिक प्रवृत्ति है—'पढ़े' को 'पढ़ै' और करे को 'करै'। इस प्रकार भविष्यत् काल में प्रयुक्त होनेवाली विभक्ति 'इष्ये' व्रजभाषा में 'इहै' बन कर आ गयी, 'अवधी' से होती हुई।

व्रजभाषा-साहित्य में 'गो' लगा कर भी भविष्यत् काल की क्रिया बनाते हैं और व्रजभूमि में यही प्रयुक्त होती है—जाइगो (खड़ी बोली में 'जायगा'), परन्तु व्रजभाषा के साहित्य में 'इहै' विभक्ति लगा कर अधिक प्रयोग हैं।

'इयत' भाववाच्य

चौथी तिङन्त विभक्ति भाववाच्य वर्तमान काल में 'इयत' है। व्रजभाषा में 'सुनियत' 'कहियत' आदि प्रसिद्ध प्रयोग हैं।

इस प्रकार संक्षिप्त विवेचन से प्रकट हुआ कि हिन्दी में केवल चार 'तिङन्त' विभक्तियाँ हैं—वर्तमान काल की 'इ', विधि प्रश्न आदि व्यक्त करने वाली 'इ' भविष्यत् काल की 'इहै' और वर्तमान 'इयत'। इन चारों विभक्तियों की वंश-परम्परा और जन्मभूमि भी हमने देखी। बस, इतने से ही प्रयोजन है। तीन तिङन्त कर्तृवाच्य हैं, चौथी भाववाच्य।

अब आगे हम कृदन्त प्रकरण मे बतलायेगे कि धातुओं से कैसे सज्ञाएं और संज्ञाकल्प क्रियाए बन जाती हैं। वह बड़ा मनोरजक प्रकरण है।



सप्तम अध्याय

—:※※:—

कृदन्त प्रकरण

भाषा के साम्राज्य में शब्दों के कर्तव्य अर्थ– सूचन के लिए नियत हैं। परन्तु आवश्यकतानुसार उनको दूसरे-दूसरे कामों पर भी लगाया जाता है। पुलिस से फौज का और फौज से पुलिस का भी काम लिया जा सकता है। इसी तरह संज्ञा से क्रियाएं (नामधातु) बन जाती हैं और धातुओं से संज्ञाएं या नाम बन जाते हैं। धातुओं से संज्ञाएं या संज्ञाकल्प क्रियाएँ जिस प्रकरण में बनती हैं, उसे 'कृदन्त' नाम दिया गया है। हिन्दी-व्याकरण में भी 'कृदन्त' शब्द उसी अर्थ में रूढ़ है।

धातुओं से कुछ शब्द तो ऐसे बनते हैं, जो बिलकुल संज्ञा ही हो जाते हैं—सामान्यतः जातिवाचक संज्ञा या विशेषण। इनका फिर क्रिया-शब्द की तरह प्रयोग नहीं होता। 'गाना' एक क्रिया है। गाना, धोना आदि क्रिया के सामान्य रूप हैं, या धातु से बनी भाव—प्रधान संज्ञाएं, जो (भाव-प्रधान होने के

कारण क्रियात्व खो नहीं देतीं। इनके 'न' प्रत्यय को अलग कर देने से जो रूप बच रहता है, वही 'धातु' है, क्रिया का मूलरूप। 'धो, पढ़, जा आदि धातु हैं, हिन्दी में। इनमें 'न' भाव-प्रधान प्रत्यय लगा कर ब्रजभाषा में धोनो, पढ़नो, जानो आदि रूप बनते हैं और खड़ी बोली में धोना, पढ़ना, जाना आदि। धातुओं से विविध कृदन्त प्रत्यय लगा कर संज्ञाएँ या संज्ञा की तरह चलने वाली क्रियाएँ बनती हैं।

धातुओं से संज्ञाएँ

विविध प्रत्ययों को अपने साथ लगा कर धातुएँ संज्ञा के रूप में प्रकट होती हैं। हिन्दी-धातुओं से कर्तृ-प्रधान (कर्तृवाच्य) 'वैय,' प्रत्यय लगा कर गवैया, धोवैया, करैया आदि संज्ञाएँ या विशेषण बनते हैं.। इनके रूप स्त्रीलिंग में भी ऐसे ही रहते हैं; और बहुवचन में भी—गवैया एक आया है, रमा बड़ी गवैया बनी है, ग्वालियरवाले बड़े गवैया हैं। गवैया, में 'गाना' क्रिया मौजूद है; पर अप्रधान रूप से। प्रधानता द्रव्य की है। 'राम गाता है' इसके बदले 'राम गवैया है' नहीं कह सकते। 'राम गवैयां है'—'राम गाना चाहता है' के अर्थ में बोला जाता है, जो दूसरी चीज है। 'वैयाँ' क्रिया-प्रधान प्रत्यय है, चाहना के अर्थ में। इन क्रिया-प्रधान प्रत्ययों का जिक्र आगे कुछ विस्तार से किया जायगा। संस्कृत से आये 'पाचक' 'गायक' आदि भी हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। ये शब्द बने-बनाये यहाँ आये हैं; क्योंकि 'पच' धातु यहाँ नहीं; बल्कि 'पका' है, जिसका 'कर्मकर्तृ' रूप

'पक' है—पकाना-पकना। यहाँ जो 'पच' धातु है भी, सो 'पक' का ही दूसरा रूप है; पर एक विशेष अर्थ में ही उसका प्रयोग होता है—रसोई में भोजन पकता है, और 'पेट में भोजन पचता है'। संस्कृत का 'पच्' यहाँ नहीं है, जिससे 'पाचक' बना है। इस लिए, बना-बनाया 'पाचक' वहाँ से आया है। इसी तरह 'अध्यापक' आदि हैं।

सूरदास ने 'धार' प्रत्यय का भी प्रयोग किया है—

'सांचो सा लिखधार कहावै' 'लिखधार'—लेखक, लिखने वाला।

बहुत से कर्तृ प्रधान कृदन्त शब्द धातु को द्विरुक्त कर देने से बन जाते हैं और किसी अर्थ में रूढ़ हो कर इतने प्रचलित हो जाते हैं कि लोग उन्हें योगरूढ़ न समझ कर रूढ़ ही समझने लगते हैं। योगार्थ लोग भूल जाते हैं। 'लाला' शब्द ऐसा ही है। यह कृदन्त शब्द है और वणिक्-जनों में रूढ हो गया है। वाणिज्य-व्यापार में 'ला' ही 'ला' रहता है। इधर से भी ला, यह भी ला; उधर से भी ला और वह भी ला। इस प्रकार ला-ला कर जो घर भरना जानते हैं, उन्हें 'लाला' कहा गया। छोटे बच्चों को भी इसीलिये 'लाला' कहते हैं। वे भी—यह ला. वह ला, चन्दा ला, खिलौना ला, इत्यादि 'ला' की झड़ी लगा देते हैं। संस्कृत में यास्क जैसे ऋषि ने 'काक' जैसे शब्दों की निरुक्ति की है—'काकः शब्दानुकरणात्' यानी 'का का' किया करता है, इसलिए 'काक' नाम पड़ा। परन्तु हमारे 'लाला'

जी की पूंछ-पछोर आज तक किसी ने हिन्दी में नहीं की! इसी तरह और बहुत शब्द हैं, जो धातुओं से बने हैं, अन्वर्थ हैं; पर लोग वह सब भूल गये।

कर्मप्रधान 'न' प्रत्यय लग कर भी सज्ञाएँ बनती हैं। जो झाड़ा जाय—झाड़न।

करण-प्रधान—कतरनी, जिससे कतरा जाय। 'न' करण-प्रधान प्रत्यय हो कर स्त्रीलिंग में 'ई'।

इसी तरह 'परखनी', जिससे परखा जाय। बोरी आदि में डाल कर भीतर से चीज निकाल लेते हैं। पुल्लिंग में 'आ' रहेगा ही—बँधना', जिससे बांधा जाय। व्रजभाषा में 'ओ' हो जाता है 'बँधनो' इत्यादि।

इसी तरह अधिकरण-प्रधान 'आसनी' जिस पर आसीन हुआ जाय। यह संस्कृत से आया है। यहां बैठने के अर्थ में 'आस' धातु ली नहीं गयी है। 'बैठ' से 'बैठक' अवश्य है। अधिकरण-प्रधान क' प्रत्यय।

इसी तरह विविध प्रत्यय लग कर विविध संज्ञाएँ बनती हैं, जो व्रजभाषा में सब खड़ी बोली के समान ही हैं। इसलिए, इनके विस्तार में न पड़ कर हम आगे उन प्रत्ययों का उल्लेख करेंगे, जिनसे क्रिया का रूप संज्ञा की तरह हो जाता है; पर इनका प्रयोग संज्ञा की तरह न हो कर प्रधान क्रिया की तरह होता है। इस प्रकरण में काफी विशेषता है; इसलिए कुछ विस्तार से कहना होगा।

कृदन्त क्रियाएँ

पीछे कहा जा चुका है कि हिन्दी में कृदन्त क्रियाएँ ही ज्यादा हैं, तिङन्त बहुत कम। कृदन्त और तिङन्त का हिन्दी में रूढ़ प्रयोग है।

कृदन्त क्रियाएँ कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य तीनों तरह से हैं। 'कर्मकर्तृ' भी कृदन्त क्रियाएँ हैं और प्रेरणा में भी।

अकर्मक क्रियाओं से यहां कर्तृवाच्य या भाववाच्य प्रत्यय होंगे। सकर्मक क्रियाओं से कर्मवाच्य, भाववाच्य, और कर्तृ-वाच्य, तीनों तरह से। 'कर्मकर्तृ' में सकर्मक क्रिया अकर्मक हो जाती है; इसलिए कर्तृ-प्रधान तथा भावप्रधान प्रत्यय होंगे। प्रेरणा में कोई क्रिया अकर्मक नहीं रहती, इसलिए कर्तृप्रधान कर्मप्रधान और भावप्रधान, तीनों तरह के प्रत्यय होंगे।

भाषा का विस्तार बहुत बड़ा है। इसलिए सभी प्रत्यय किसी भी प्रकरण के नहीं गिनाये गये हैं, संकेत भर किया गया है। इस कृदन्त प्रकरण में भी कुछ नमूने के प्रत्यय बतलाये जायँगे। इससे यह न समझ लें कि बस, इतने ही कृदन्त प्रत्यय हिन्दी (ब्रजभाषा) में हैं।

'त' प्रत्यय वर्तमान कर्तृवाच्य

संस्कृत में एक 'त' (क्त) प्रत्यय भूतकाल के आद्य क्षण में क्रिया का सम्पर्क प्रकट करने के लिए होता है। यह वर्तमान से मिला हुआ भूतकाल में होता है। यह 'त' अकर्मक-सकर्मक सभी धातुओं से कर्ता में (कर्तृ-वाच्य) होता है और 'पुरुष' प्रकट करने के

लिए 'अस' धातु सहायक क्रिया के रूप में इसके साथ रहती है। या फिर कर्ता जोड़ने से 'पुरुष'–प्रतीति होती है; जैसे—

'रामः उपविष्टः अस्ति। त्वम् उपविष्टः असि'।

वचन और रूप संज्ञा की तरह होंगे, कर्ता के अनुसार—

'बालकः उपस्थितः अस्ति। बालकाः उपस्थिताः सन्ति'।

स्त्रीलिङ्ग में—'देवी उपस्थिता अस्ति'। हिन्दी में 'रामः उपस्थितः अस्ति' का अर्थ है—'राम उपस्थित है।'

अब 'उपस्थितः' का मतलब साफ होगया और यह भी मालूम हुआ कि करीब-करीब वर्तमान काल में ही यह 'त' प्रत्यय है। तभी तो 'जागृतो भव' आदि प्रयोग ठीक बैठते हैं। फिर भी 'रामः स्वपिति' और 'रामः सुप्तः अस्ति' में अन्तर है। साधारणतः इस अन्तर का ख्याल न करके एक ही अर्थ में दोनों प्रयोग कर दिये जाते हैं।

हिन्दी ने तिङन्त के अनन्त रूप-जंजाल से बचने के लिए सीधे-सादे कृदन्त रूप ग्रहण किये हैं और वर्तमान काल में भी इस 'त' प्रत्यय को ही लेकर अपना सब काम चला लिया है।

हिन्दी में 'त' प्रत्यय वर्तमान काल मे होता है, कर्तृ प्रधान अकर्मक-सकर्मक सभी धातुओं से। धातु के साथ 'त' प्रत्यय लगने से हिन्दी (ब्रजभाषा) में 'जागत' 'पढ़त' 'करत' आदि रूप होते हैं। कृदन्त होने से इनके रूप वचन संज्ञा की तरह होंगे। अकारान्त पुलिङ्ग संज्ञा के हिन्दी में, एक वचन और बहुवचन में समान रूप रहते हैं, कर्तृवाच्य क्रिया के कर्ता-

रूप से जब प्रयोग हो। 'बालक जाता है' और 'बालक जाते हैं'।

तथा 'बालक पढ़त है' 'बालक पढ़त हैं'। यह त-प्रत्यान्त कृदन्त क्रिया भी अकारान्त है और इसीलिए इसके बहुवचन में कोई परिवर्तन न होगा। 'राम उठत है' और 'बालक उठत हैं'। सहायक क्रिया के रूप में सर्वत्र 'है' रहेगी, विभिन्न पुरुषों में यथावश्यक परिवर्तित होकर—तुम उठत हौ, मैं उठत हौं, इत्यादि। संस्कृत में भी 'त्वमुत्थितः असि' और 'अहमुत्थितः अस्मि।' संस्कृत के ये उदाहरण केवल सहायक क्रिया का प्रयोग स्पष्ट करने के लिए हैं। वैसे—'त्वमुत्थितः असि' में और 'तू उठता है' या तू उठत है' में बड़ा अन्तर हो गया है। 'त्वमुत्थितः असि' का हिन्दी में अनुवाद होगा—'तू उठा है'। 'तू उठता' है और 'तू उठा है' में बड़ा अन्तर है। कारण, संस्कृत में वह 'त' (क्त) भूतकाल में ही होता है; पर ऐसा भूतकाल, जो वर्तमान को छू रहा हो। इसी को हिन्दी-व्याकरण में 'आसन्न भूत' कहते हैं। परन्तु हिन्दी में यह 'त' प्रत्यय बिलकुल वर्तमान काल में होता है। संस्कृत में अकर्मक क्रियाओं से ही कर्तृ-वाच्य होता है; पर हिन्दी में अकर्मक-सकर्मक सब से।

खड़ी बोली में 'त' के 'अ' को दीर्घ हो जाता है, 'आ' संज्ञा-विभक्ति लग कर 'पढ़ता, करता, खाता, जाता' इत्यादि।

यह आकारान्त कृदन्त क्रिया हो गयी; अतः (खड़ी बोली में) 'लड़का' आदि आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञाओं की ही तरह इसके रूप चलेंगे—बहु वचन में 'पढ़ते' हो जायगा, 'लड़के' की

तरह। सो—

साधु पढ़ता है,	सब पढते हैं
मैं पढता हूँ	हम पढ़ते हैं
तू पढता है,	तुम पढते हो

यों रूप होंगे। स्त्रीलिङ्ग में व्रजभाषा में 'त' के 'अ' को इ' हो जाता है और खड़ी बोली में 'ई'। जैसे—

'सीता पढ़ति है और सीता पढ़ती है'

व्रजभाषा में कहीं-कहीं 'अ' को 'उ' भी हो जाता है, 'राम कहा धौं पढ़तु हैं।

'य' प्रत्यय(भूतकालिक)

भूतकाल में अकर्मक धातुओं से कर्ता में, सकर्मकों से भाव और कर्म में यह 'य' प्रत्यय होता है। इससे बनी हुई क्रिया व्रजभाषा में ओकारान्त और खड़ी बोली में आकारान्त पुलिङ्ग संज्ञा की तरह चलती है; क्योंकि 'ओ' तथा 'आ' सज्ञा-विभक्तियाँ लग जाती हैं और (इन विभक्तियों के लगने से) प्रत्यय के 'अ' का लोप हो जाता है। बहुवचन में भी उसी तरह के रूप होते है। अकर्मक कर्तृवाच्य—

राम गयो,	सब छात्र गये।	राम गया	सब छात्र गये
मैं गयो	हम गये।	मैं गया	हम गये
तू गयो	तुम गये।	तू गया	तुम गये

सर्वत्र कर्ता के अनुसार, संज्ञा की तरह, क्रिया के वचन हैं। स्त्रीलिङ्ग में खड़ी बोली और व्रजभाषा में समान रूप—

'सीता गयी (या गई)'

'य' का लोप कहीं वैकल्पिक और कहीं नित्य होता है, यह पीछे अनेक जगह कहा गया है।

यदि किसी धातु में अनेक स्वर हों, तब 'य' परे होने से उस (धातु) के अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और व्यंजन आगे के प्रत्यय से मिल जाता है :—

देख्यो, रह्यो, उठ्यो बैठ्यो; इत्यादि।

ऐसी अनेकस्वरयुक्त धातुओं से परे 'य' का लोप हो जाता है, यदि उससे परे ('ओ' से भिन्न) अन्य कोई स्वर हो :—

'देखी स्याम अनोखी रीति, बैठे सबै सखा मन मारे'।

खड़ी बोली में—उठा, देखा, बैठा इत्यादि।

स्त्रीलिङ्ग में 'ई' है :—

देखी एक अनूपम नारि, बैठी जसुदा सब के आगे।

इस तरह सर्वत्र 'य' है, कहीं प्रत्यक्ष, कहीं लुप्त। एक स्वर की धातु में भी 'य' कभी-कभी लुप्त होता है। ऊकारान्त 'छूना' आदि में—छुआ, छुओ, छुई। 'ऊ' ह्रस्व भी हो गया है।

अकर्मक धातुओं से कर्ता में (कर्तृवाच्य) 'य' प्रत्यय होता है। उसके वचन आदि कर्ता के समान होते हैं।

सकर्मक धातुओं से कर्म या भाव में 'य' होता है। कर्म में:—

राम ने वह काम किया, राम ने वे काम किये।

राम ने संहिता पढ़ी, राम ने ग्रन्थ पढ़ा।

'पढ़ी' और 'पढ़ा' में 'य' का लोप हो गया है; क्योंकि 'पढ़्या' अच्छा नहीं लगता और समस्थानीय 'ई' में मिलकर तो वह पृथक् श्रुत भी नहीं हो सकता। यहाँ क्रियाएँ कर्म के अनुरूप हैं; वचन आदि में, तथा लिङ्ग में।

भाववाच्य—

मैंने राम को देखा, तूने राम को देखा

लड़की ने मुझे देखा, मैंने लड़कियों को देखा।

कर्ता-कर्म चाहे जैसे कर दे, क्रिया पुल्लिंग एक वचन रहेगी। यहाँ भी 'य' का लोप है, 'देख्या' अटपटा लगता है। (पंजाब में 'देख्या' बोलते भी हैं)। 'य' के सहित प्रयोग :—

मैंने तुम को लिया, तुमने लड़की को गोद लिया।

लड़की ने लड़के को लिया, लड़के ने लड़की को लिया।

लड़के ने हमको लिया, हमने तुमको लिया।

इसी तरह 'य' सहित कर्मवाच्य:—

'मैंने फूल लिये, हमने फूल लिया'

परन्तु कभी भाववाच्य क्रिया ही भली लगती है। 'मैंने तुम देखे' न होगा। ब्रजभाषा में भी इसी तरह—

मैंने काम कियो, मैंने काम किये, (कर्मवाच्य)

तूने देख्यो राम (कर्मवाच्य)।

हमहि जननी ने देख्यो (भाववाच्य)।

'य' प्रत्यय भाव मात्र में

पीछे जिस 'य' प्रत्यय का उल्लेख हुआ, उससे भिन्न एक

और 'य' प्रत्यय हिन्दी में होता है, केवल भाव में। वह 'य' प्रत्यय भूतकाल में होता है; परन्तु यह किसी विशेष काल से बँधा नहीं है। जैसे शहद 'योगवाही' है, जिस दवा में मिलाओ, उसी के माफिक अपना असर प्रकट करता है; उसी तरह यह भाववाचक 'य' प्रत्यय है। परन्तु एक विशेष अर्थ में भी इसका विधान है। जब क्रिया का सातत्य (सदा जारी रहना) प्रकट करना हो. तब इसी प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् क्रिया का सातत्य प्रकट करना भी इस प्रत्यय का काम है। इसी लिए इसे 'सातत्य—द्योतक ' य ' प्रत्यय' भी कह सकते हैं, जो भाववाच्य प्रयुक्त होता है, अकर्मक-सकर्मक सभी धातुओं से। भाववाच्य क्रिया सदा पुल्लिंग एक वचन में प्रयुक्त होती ही है—

सुन्यो करति है जननी कथा (ब्रज—भाषा) सुना करती है जननी कथा (खड़ी बाली)

सुना करता हूँ खड़ा सब मै (ख०) सुन्यो करत हौं ठाढो सबै (ब्र०)

कियो करत हम याद तुम्हारी (ब्र०) किया करते हम याद तुम्हारी (ख०)

इस 'य' का भी लोप उसी तरह सब जगह है। अनेक स्वर वाली धतुओं में लोप—आ परे होने पर—

सुना करती, देखा करती, बैठा करती इत्यादि मे। एकस्वर धातु मे रहता है—किया करती, पिया करती

' ओ ' परे होने पर तो अनेकस्वर धातुओं से परे भी ' य '

रहता ही है 'देख्यो करति राह पीतम की' 'उठ्यो करत बै देखत तिन कौं'

हिन्दी-व्याकरणों में 'सुना करता हूँ' में 'सुना' आदि को सामान्य भूत काल का रूप लिखा है, जो गलत है। यह 'य' सब कालों में प्रयुक्त होता है - सुन्यो करै गी, सुन्यो करति सब बातैं तिहारी, इत्यादि। आज्ञा आदि में भी 'जायो करौ नित मन्दिर में'। प्रार्थना मे—'आयो करौ सखि मेरी कुटीर में' इत्यादि।

'य' प्रत्यय के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें

'य' के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें कहने को हैं। ब्रजभाषा में भूतकाल के स्त्रीलिंग में दियो, कियो, लियो के रूप दई, करी, लई होते हैं और इनकी जगह 'न'—प्रत्ययान्त 'दीनी' 'कीनी' तथा 'लीनी' का भी प्रयोग होता है।

हमने संस्कृत के 'त' (क्त) का हिन्दी में 'य' हो जाना लिखा है। 'त' का 'य' हो जाना हिन्दी में अन्यत्र भी आप देख सकते हैं:—घृत, घिय—घी।

'य' का 'इ' हुआ और फिर सवर्ण दीर्घ। और भी स्पष्ट लीजिए—अमृत अमिय। नवशिक्षित—नौ सिखिया।

पूर्वी बोली में 'त' बन जाता है 'व'—'आवा' 'गवा' आदि। 'त' का 'व' भी हिन्दी में अन्यत्र स्पष्ट है।

देशान्तर देसावर (दिसावर)

देशान्तरीय देसावरी (दिसावरी)

यह तो हुई हिन्दी की विभिन्न बोलियों की बात। परन्तु जो स्वतन्त्र प्रान्तीय भाषाएँ हैं; पर हिन्दी की सगी बहनें हैं, उनके यहाँ भी 'त' इसी तरह खेल रहा है। पंजाबी भाषा में देखिए—

'तू गया सी'। मुडा गया सी (लडका गया था) राम आया सी (राम आया था) इत्यादि।

वही 'त' है और उसी तरह 'य' बन कर। परन्तु कुछ कर्म-वाच्य क्रियाओं में वहाँ 'त' ज्यों का त्यों रहता है, 'य' नहीं बनता—

मैंने काम कीता (मैंने काम किया था) मुडे ने दुद पीता सी (लडके ने दूध पिया था) मुडे ने दवा पीती सी (लडके ने दवा पी थी)

'देना' का 'दीता' होता है। यही 'दित्ता' हो गया है—'राम दित्ता मल'। सो 'दत्त' की प्रतिध्वनि है; क्यों कि 'कीता' आदि के 'कित्ता' जैसे कोई रूप नहीं होते।

किन्तु यह बात कुछ ही (एकस्वर) देना–पीना आदि की क्रियाओं में है। अन्यत्र सकर्मक या कर्मवाच्य क्रियाओं में वहाँ (पंजाबी में) भी 'य' ही होता है। एक बात और। हिन्दी में पूर्ण भूतकाल प्रकट करने के लिए 'था' लगाते हैं। भूतकाल प्रत्यय 'य' से भी प्रकट होता है और 'था' से भी। मिल कर पूर्ण भूतकाल। यह 'था' एक सहायक क्रिया है, 'अस्' की बनी हुई, कृदन्त। इसी लिए (कृदन्त क्रिया होने के कारण) संज्ञा की तरह वचन-लिंग आदि होते हैं—गया था, गये थे, गयी थी। परन्तु पंजाबी भाषा की 'सी' सहायक क्रिया कृदन्त नहीं, तिङन्त है। उसके रूप संज्ञा

की तरह बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग में बदलते नहीं। देखिए—

मुंडा गया सी (लड़का गया था)

कुड़ी गयी सी (लड़की गयी थी)

यह 'सी' स्पष्टत: संस्कृत के 'आसीत्' क्रिया का मध्य अंश है। इसके बहुवचन में 'सन्' होता है, जो संस्कृत के ('आसीत्' के बहुवचन) 'आसन्' का अन्तिम अंश है।

मुंडे गये सन् (लड़के गये थे)।

कुड़ियाँ गयी सन् (लड़कियाँ गयी थीं)।

'सन्' भी पुल्लिंग-स्त्रीलिंग में समान है, बदला नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'सन्' सहायक क्रिया भी तिङन्त है और 'आसीत्' के बहुवचन 'आसन्' का अन्तिम अंश है। सस्कृत मे भी तिङन्त क्रिया पुल्लिग-स्त्रीलिंग में समान-रूप रहती है—

पुरुषाः गताः आसन्।

स्त्रियः गताः आसन्।

तिङन्त 'आसीत्'. भी स्त्रीलिंग में नहीं बदलती—

रामः गतः आसीत्।

रमा गता आसीत्

पंजाबी में—राम गया सी और रमा गई सी।

सो, पंजाबी में 'य' प्रत्यय तो हिन्दी की ही तरह है; पर सहायक क्रिया में भेद है। हिन्दी में 'था' 'अस्' का कृदन्त रूप है और पंजाबी में 'सी' तथा 'सन्' संस्कृत 'अस्' के ही तिङन्त रूप; 'आसीत्' और 'आसन्' के क्रमशः मध्य और

अन्तिम अंश। इसी प्रकार अन्य प्रान्तीय भाषाओं में बहुत कुछ समता है, यदि एक-रूपता नहीं।

'न' प्रत्यय धातुओं से भाववाच्य होता है, अकर्मक-सकर्मक सबसे। ब्रजभाषा में ओकारान्त संज्ञा की तरह और खड़ी बोली में आकारान्त की तरह न-प्रत्ययान्त के रूप चलते हैं। संस्कृत में भी 'न' है—पठन, अध्ययन, गमन आदि। इन (संस्कृत न-प्रत्ययान्त शब्दों) में हिन्दी की 'ओ' या 'आ' संज्ञा-विभक्ति नहीं लगती, केवल अपने 'न' प्रत्यय में लगती है—

जानो, करनो, उठनो, बैठनो, लजानो, निभानो (ब्रजभाषा)

जाना, करना, उठना, बैठना, लजाना, निभाना (खड़ी बोली)

सभी कारकों में इनका प्रयोग होता है—

मेरो जानो न ह्वै है (कर्ता)

तेरो जानो मैं देखिहौं गो (कर्म)

'व' प्रत्यय भाव-प्रधान

'न' की ही तरह 'व' प्रत्यय भी भावप्रधान होता है; पर ब्रजभाषा में ही, खड़ी बोली में नहीं—

'बसिबो ब्रज को नीको,

आगि लगै ब्रज के बसिबे महँ, पानी में आगि लगावै लुगाई'

'करिबो हमैं सब नीको लगै'

'कविता समुझाइबो मूढ़नि कों,

सविता गहि भूमि पै लावनो है।'

'कविता करिबो कछु खेल नहीं है'।

इस प्रकार व्रजभाषा में 'न' और 'ब' प्रत्यय भाव में है। पर खड़ी बोली में केवल 'न'।

'न' प्रत्यय अनिवार्यता था विधि आदि में

एक 'न' प्रत्यय और हिन्दी में है, जो अनिवार्यता तथा विधि आदि प्रकट करता है और भाव तथा कर्म में होता है। सस्कृत में—'मया पठनीया वेदाः' से यह 'न' आया जान पड़ता है। देखिए, अकर्मक धातुओं से भाव में—

उठनो है मोहिं सबेरे, (व्रजभाषा)

उठना है मुझे सबेरे (खड़ी बोली)

जागनो है जननी कों (व्रजभाषा)

जागना है जननी को, (खड़ी बोली)

जागनो है उन कौं (व्रजभाषा)

जागना है उनको, (खड़ी बोली)

सर्वत्र एक वचन, पुल्लिग क्रिया है, सब तरह के 'कर्ता' लगने पर। सकर्मक के कर्मवाच्य प्रयोग--

'लेनो है मोहिं बड़ो फल'

लेने हैं मोहिं बड़े फल।

सर्वत्र कर्म के अनुसार क्रिया के लिङ्ग-वचन हैं। खड़ी बोली में भी—'मुझे रोटी खानी है' 'राम को वेद पढ़ना है' 'रमा को वे ग्रन्थ पढ़ने हैं'

यों कर्म के अनुसार क्रिया के वचन आदि हैं।

खड़ी बोली में सकर्मक क्रियाओं से भाववाच्य भी 'न' होता है—

'लड़कों को अभी यह पुस्तक पढ़ना है' और 'राम को अभी रोटी खाना है',

सब जगह क्रिया की अनिवार्यता प्रतीत होती है।

ब्रजभाषा में 'ब' प्रत्यय भी क्रिया की अनिवार्यता आदि प्रकट करने के लिये होता है, केवल भाव में (भाववाच्य)—

'बसिबो हमैं ब्रज ही मैं सखी री'

'करिबो मोहिं आजु कछु करनी'

'बसिबो' अकर्मक क्रिया भाववाच्य है, और 'करिबो' सकर्मक भाववाच्य। कहीं-कहीं कर्मवाच्य प्रयोग भी मिलते हैं—

'धाइबी सुधि अम्ब कबहुँक'

प्रार्थना आदि में भी 'न' प्रत्यय होता है, भाववाच्य और कर्मवाच्य—

'उधौ, करनी एती दया'

खड़ी बोली में ऐसे स्थल में सकर्मक से भाववाच्य भी होता है—

'करना इतनी दया हमारे ऊपर'।

भूतकाल में 'न' (कर्मवाच्य)

'न' प्रत्यय एक और है, जो केवल कुछ सकर्मक धातुओं से (कर्मवाच्य) होता है—

'कीनी कृपा इतै पगुधारे' 'कीनो है मो पै उपकार 'दीनो गाय'।

खड़ी बोली में यह 'न' प्रत्यय नहीं होता है; पर अवधी में—दीन, कीन, लीन आदि में स्पष्ट है।

'य' प्रत्यय प्रार्थना आदि में (भाववाच्य)

एक प्रार्थनार्थक भी 'य' प्रत्यय है, जिस का प्रयोग प्रायः भाववाच्य होता है, ओकारान्त संज्ञा की तरह, पुल्लिग एकवचन में। यानी 'य' प्रत्यय में संज्ञा की प्रथमा विभक्ति लग जाती है 'ओ'।

'ऊधौ कहियो एती बात स्याम सों' 'रहियो सुख सों जीवन प्रान!'

कभी-कभी एकारान्त प्रयोग भी होता है,—वितर्क आदि में—'करिये कहा कौन विधि रहिये'।

'ए' को 'ऐ' भी हो जाता है और कहीं-कहीं 'य' का लोपभी—

'नैननि कौं तरसैये कहाँ लौ,
कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैये।
एक घरी कल पैये कहूँ न,
कहाँ लगि प्रानन कौं कलपैये।
आवत जी में विचार यही,
सखी चलि सौतिहुँ के घर जैये।
मान घटे ते कहा घटिहैं जुपै,
प्रान-पियारे कौं देखन पैये।

सब जगह भाव में प्रयोग है, अर्थ-भेद से। 'जैये' में विधि या कर्तव्यता है। 'पैये' में सम्भावना है।

अष्टम अध्याय

तद्धित प्रकरण

—:०:—

संज्ञा से दूसरी संज्ञा, विशेषण से संज्ञा, संज्ञा से विशेषण आदि 'तद्धित' में बनते हैं। यह सब खड़ी बोली का और ब्रजभाषा का समान ही है। कहीं कुछ अन्तर-विशेषता है। इसलिए संक्षेप से कुछ कहा जायगा, कुछ बिलकुल नहीं।

स्वार्थ में 'क' प्रत्यय

एक 'क' प्रत्यय तद्धित में होता है—स्वार्थ में। इस प्रत्यय से अर्थ कुछ बदलता ही नहीं। संस्कृत से यह आया है—शश-शशक, बाल-बालक आदि।

ब्रजभाषा में—

'अंजन कहा आँखि जेहि फूटै

बहुतक कहौं कहाँ लौं।

'बहुत' और 'बहुतक' एक ही बात है।

अव्ययों से भी—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ,

'कबहुँ' और 'कबहुँक' एक ही बात है।

अल्पार्थक 'क' प्रत्यय

कहीं अल्पार्थ में 'क' होता है। यह भी संस्कृत से आया है—

'यहि घाट ते थोरिक दूर अहै'

'थोरी' से 'क'। 'बिलकुल थोड़ी दूर' यह मतलब निकला।

लगभग के अर्थ में 'क'

'सात' से 'क' प्रत्यय 'सातक कोस'। लगभग सात कोस। इसी तरह से द्वैक, तीनक, चारक आदि होते हैं। संख्यावाचक शब्दों से ही यह 'क' होता है। परन्तु 'बारक मोहिं उबारि' में यह प्रत्यय नहीं है। यहाँ 'एक' का 'बार' से समास; 'बार' का पूर्व प्रयोग और 'एक' के 'ए' का लोप है।

'हार' और 'वार' प्रत्यय

किसी भाववाचक संज्ञा से विशेषण या जातिवाचक संज्ञा बनानी हो, तो 'हार' या 'वार' प्रत्यय लगता है।

करनहारो, चरावनहारो, जानवारो, बेंचनवारो।

(स्त्री)—करनहारी, चरावनहारी, जानवारी, बेचनवारी।

विशेष बात यह है—'हार' प्रत्यय केवल कृदन्त भाववाचक संज्ञाओं से ही होता है; पर 'वार' सभी संज्ञावाचक शब्दों से होता है—दधिवारी, बंसीवारो। 'व' को कभी-कभी 'ब' भी हो जाता है।

खड़ी बोली में इसकी जगह 'वाला' होता है, स्त्रीलिङ्ग में 'वाली'। ('हार' और 'वार' प्रत्ययान्त में 'ओ' संज्ञा विभक्ति ब्रजभाषा में लगी है)।

'आई' भाववाचक प्रत्यय

सुघर—सुघराई, चतुर—चतुराई।

ढीठ—ढिठाई, ठाकुर—ठाकुराई।

'पन' प्रत्यय भी ब्रजभाषा इत्यादि में आता है; पर बहुत ही कम—'बिरधापन आयो' इत्यादि। संस्कृत का 'त्व' प्रत्यय ब्रज-भाषा में गृहीत नहीं है। 'प्रभुत्व' आदि प्रयोग ब्रजभाषा में नहीं होते। ता' प्रत्यय भी यहाँ ग्राह्य नहीं है; यदि कहीं आया भी है, तो उपेक्षित होकर! उसकी अवगणना करके, उसके ऊपर 'आई' बैठा दिया गया है-'चतुरताई आदि। परन्तु यह ठीक नहीं। एक भाववाचक प्रत्यय 'ता' के बाद फिर दूसरा भाववाचक 'आई साफा के ऊपर पगड़ी बाँधने की तरह है, या पगड़ी के ऊपर टोपी लगाना। पंडिताई' आदि में तो 'पंडित' शब्द में 'आई' ठीक ही है। 'आई' या 'अई' भी रह जाता है—'चतुरई' 'सुघरई'।

'त्व' और 'ता' की कठोरता ही ब्रजभाषा को अग्राह्य हुई। इन्हें संस्कृत साहित्य में भी कठोर माना गया है और इसीलिए मधुर-कोमल काव्यों में इनका प्रयोग-प्राचुर्य वर्जित है। हाँ, 'य' (ष्यञ्) प्रत्यय कुछ मधुर अवश्य है—'वैदुष्यम्' अच्छा 'विद्वत्ता' की अपेक्षा। जो भी हो, ब्रजभाषा में 'त्व' तथा 'ता' का प्रयोग नहीं है, या नहीं के बराबर है।

स्त्री-प्रत्यय

पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने में जो प्रत्यय लगते हैं, वे भी

'तद्धित' प्रकरण में ही रखे जा सकते हैं; यद्यपि उनके लिए एक अलग प्रकरण रखने की चाल है।

ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग बनाने में वे ही सब प्रत्यय काम आते हैं, जो खड़ी बोली में। अधिकतर 'आ' और 'ई' अन्त में लगते हैं। वैसे अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों की भी कमी नहीं—खाट, सिल, दीवार, रेल आदि।

सोचने से जान पड़ता है कि स्त्री सदा पुरुष के पीछे चलती रही है। शब्दों के स्त्री- प्रत्ययों पर ध्यान देने से भी यही जान पड़ता है। संस्कृत में और तदनुसार हिन्दी में पुल्लिग शब्द प्रायः अकारान्त, और स्त्रीलिंग आकारान्त हैं। यदि पुल्लिग इकारान्त हैं, तो स्त्रीलिंग ईकारान्त। जब प्रारम्भ में नाम रखे जाने लगे होंगे, तो सब से पहले 'अ' अक्षर देखकर अकारान्त नाम किये गये होंगे, पुरुषों के। उसके बाद स्त्री का नम्बर। उसे 'आ' मिला। 'बालक' के बाद 'बालिका'; 'अ' के बाद 'आ'। फिर जब पुरुषों के इकारान्त नाम हुए, तब स्त्रियों के ईकारान्त। यहाँ भी इ, ई का क्रम है। सम्भव है, स्त्री को अधिक गौरव देने के लिए उसके नामों में मात्रा-गौरव किया गया हो। पुल्लिंग नाम प्रायः सब 'लघु' हैं—राम-मुनि आदि। स्त्रीलिंग नामों में गुरुत्व है—रमा, लक्ष्मी आदि।

मानव-जाति के स्त्री-पुरुषों के नाम जब इस प्रकार रखे गये, तब बाद में मानवेतर प्राणियों के नामकरण में भी उसी प्रथा का अनुकरण किया गया। फिर अचेतन पदार्थों के नाम

भी उसी ढर्रे पर चलने लगे। हिन्दी में—'लड़की' की तरह—लकड़ी, गाड़ी, घड़ी, कुरसी आदि अचेतन पदार्थों के नाम भी स्त्रीलिंग ही हैं। सो सब शब्दानुकरण पर। सीता की तरह 'लता' और 'लक्ष्मी' की तरह 'नदी' नाम स्त्रीलिंग हुए। प्रवाह में कहीं कुछ अन्तर भी है; परन्तु फिर भी धारा अविच्छिन्न है।

जिस शब्द को अधिकांश शिष्ट जन जिस रूप में बोलने लगे, उसका वही लिंग प्रसिद्ध और मान्य हो गया। संस्कृत में नपुंसकलिंग की भी कल्पना है। स्त्री-पुल्लिंग से बचे हुए शब्द नपुंसक-लिंग। 'कमल' शब्द का नपुंसक लिंग में, संस्कृत में प्रयोग होता है। किसी समय कुछ लोग इसे पुल्लिंग भी बोलने लगे। उस समय जो 'कोष' ग्रन्थ बने, उन में 'कमल' शब्द को उभय-लिंग लिख दिया गया—नपुंसक लिंग और पुल्लिंग। परन्तु अधिकांश शिष्ट समाज ने 'कमल' का प्रयोग नपुंसक लिंग में ही किया, पुल्लिंग में नहीं। फलतः यह शब्द यदि कोई संस्कृत में पुल्लिंग प्रयुक्त करे, तो गलत समझा जाता है; यद्यपि 'कोष' आदि से इसका नपुंसक लिंग में होना प्रमाणित है। मतलब यह है कि शब्दलिंग प्रयोगाधीन हैं। इसीलिए संस्कृत-व्याकरण के आचार्यों ने कहा है—

'लिङ्गमशिष्यम्, लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य

यानी कौन-सा शब्द किस लिंग में प्रयुक्त करना चाहिए, इस का बन्धन व्याकरण, आदि की शिक्षा द्वारा न करना चाहिए; क्योंकि लोग जिस शब्द का प्रयोग जिस लिंग में करने लगे, वही

उसका लिंग। परन्तु साहित्य में शिष्ट-प्रयोग ही ग्राह्य है। 'गेंद' शब्द इधर पश्चिमी युक्त प्रान्त में कहीं-कहीं स्त्रीलिंग बोला जाता है—'मेरी गेंद अच्छी है'। परन्तु यह क्वाचित्क प्रयोग साहित्य में गृहीत नहीं है। साहित्य में 'गेंद' शब्द पुल्लिग ही प्रयुक्त है, ब्रजभाषा में भी और खड़ी बोली में भी। 'मार्‌यो टोल, गेंद गयो दह में' और 'बड़ा गेंद लाया'। हिन्दी साहित्य में यदि कोई 'गेंद' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में करेगा, तो गलत समझा जायगा, भले ही हिन्दी-भाषी प्रदेश के किसी भाग में वह वैसा बोला जाता हो। प्रवाह-भंग ही गलती है।

सुना है, हिन्दी के एक प्रसद्धि कवि 'चन्द्रमा' का प्रयोग स्त्रीलिग में करते है! कहते हैं, मधुरता लाने के लिए! 'चन्द्रमा अच्छी है' कहने में क्या मधुरता आ गयी, समझ में नहीं आता। सुनते हैं, वाजिदअली शाह के जमाने में लखनऊ के लोग सब शब्दों का स्त्रीलिंग में ही प्रयोग करने लगे थे। वही झनक या सनक यहाँ भी मालूम देती है।

यह बात ठीक है कि स्त्रीलिंग शब्द में माधुरी और कोमलता अधिक अनुभूत है। स्त्री स्वतः कोमल और मधुर है; अतः स्त्रीलिंग शब्दों में भी उस की झलक है।

स्त्रीलिंग शब्द अधिक मधुर-कोमल होते हैं; इस ओर हमारे प्राचीन साहित्यकारों का भी ध्यान गया था और उन्होंने वैसे प्रयोग भी किये; परन्तु प्रवाह भंग कर के नहीं। सरोज का सूर्य के साथ सम्बन्ध और तज्जन्य विकास का वर्णन करने के लिए एक

का स्त्रीलिंग में प्रयोग अधिक सुन्दर है। इस के लिए कवियों ने 'सरोज' को 'सरोजिनी' और 'कमल' को 'कमलिनी' बना लिया। वे 'सरोज' और 'कमल' को ही स्त्रीलिंग में नहीं प्रयुक्त करने लगे। इसी तरह 'चन्द्र' पुल्लिंग को 'चन्द्रकला' 'चन्द्रलेखा' आदि रूप से स्त्रीलिंग बना कर सुन्दर प्रयोग किये। वियोगिनी सुन्दरी की उपमा 'चन्द्रकला' या 'चन्द्रलेखा' से फबती भी खूब है। दुर्बलता की हद, एक क्षीण रेखा; पर फिर भी बहुत सुन्दर। इसी तरह 'वन' को 'वनराजि' बना कर स्त्रीलिंग प्रयोग किया गया है। यह नहीं कि चन्द्र, वन आदि शब्दों को ही स्त्रीलिंग में प्रत्युक्त कर दिया गया हो! हमारे 'क्रान्तिकारी' कवियों को भाषा-विज्ञान के विरुद्ध जाने में ही शायद मजा आता है! परन्तु इन के इस तरह के बेढँगे प्रयोगों का मजाक ही लोग उड़ाते हैं।

बस, स्त्रीलिङ्ग के सम्बन्ध में और कुछ विशेष कहना नहीं है।



नवम अध्याय

समास

—:o:—

समास ब्रजभाषा में संस्कृत और खड़ी बोली के ही समान हैं। यहाँ 'समस्त' शब्दों के प्रयोग पर कुछ विचार करना है।

तत्पुरुष समास में अन्तिम शब्द की प्रधानता होती है। यह प्रधानता प्रयोग की दृष्टि से ही अभिप्रेत है। 'राजपुरुष' में प्रयोग की दृष्टि से 'पुरुष' प्रधान है। 'राजपुरुष आता है' कहने से यही समझा जायगा कि वह पुरुष आता है, जो राजा का नौकर है। 'राजा' का 'आने' से कोई सम्बन्ध नहीं। इसी तरह 'लतापुष्प तुम लाये' में 'पुष्प' ही 'लाये' गये हैं। लताओं का 'लाने' से कोई सम्बन्ध नहीं। इसी लिए; राज पुरुष, लतापुष्प, राजकन्या आदि तत्पुरुषों में उत्तर पद प्रधान समझ कर उसी के अनुसार प्रयोग होते हैं; उसी के अनुसार क्रिया और अन्य शब्दों का सम्बन्ध।

'लतापुष्प रखे हैं' और 'राजकन्या बैठी है' इत्यादि।

क्रियाएँ अन्तिम शब्द के अनुसार हैं। और, इसी तरह विशेषण आदि शब्दों का भी शब्दान्तर से सम्बन्ध होगा।

राम के सब लतापुष्प मैंने ले लिए

विदर्भ की राजकन्या बड़ी चतुर है

'राम के' है 'पुष्प' के अनुसार। 'लता' से मतलब नहीं। इसी प्रकार 'विदर्भ की' है 'कन्या' के साथ। इसका 'राज' से प्रयोजन नहीं।

परन्तु समास का पूरा ज्ञान न होने के कारण—

'आपके आज्ञानुसार'

ऐसा गलत लोग लिख दिया करते हैं। वे समझते हैं कि 'आज्ञा' 'स्त्रीलिंग शब्द का 'अनुसार' पुल्लिंग शब्द के साथ समास होकर 'आज्ञानुसार' पुल्लिंग शब्द बन गया और तब 'आपके आज्ञानुसार' लिखना ठीक है। ऐसा लिखने वाले यह नहीं समझते कि 'आज्ञानुसार' में 'लतापुष्प' की तरह तत्पुरुष समास नहीं है; और उत्तर पद प्रधान नहीं है। 'आज्ञानुसार' तत्पुरुष नहीं; अव्ययीभाव समास है और यह शब्द पुल्लिंग नहीं; बल्कि अव्यय के रूप में है। इसलिए—

'आपकी आज्ञानुसार'

ठीक है। 'आप' में स्त्रीलिंग 'की' विभक्ति लगेगी, पुल्लिंग 'के' नहीं। इसी तरह 'अपनी मति-अनुसार' होगा, 'अपने मति-अनुसार' नहीं। संस्कृत में भी ऐसे प्रयोग होते हैं और

'गमकत्वात्समासः' समझा जाता है।

तद्धित 'इकट्ठा' 'कठौता' आदि की तरह समास में भी कहीं कहीं दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है:—

इकतारा, दुरगा, अठपहलू, सतनजा

संख्यावाचक ही नहीं, अन्य शब्द भी ह्रस्व होते हैं—

खटकिरवा, दुधमुहाँ 'कलमुहीं' इत्यादि।

ब्रजभाषा में शब्दों के पूर्वापर प्रयोग में कुछ व्यत्यय भी कभी-कभी होता है—

'मर्दन-मयन नयन छवि हरकी'

'मयन-मर्दन' संस्कृत में तथा खड़ी बोली में होगा। यहां 'मर्दन-मयन' भी है।

समाससूचक चिह्न

समाससूचक (-) चिन्ह का प्रयोग ब्रजभाषा-कविता में भी होने लगा है, सो ठीक। परन्तु एक पद में एकाधिक चिन्ह अच्छे नहीं लगते और यदि चार-छह हों, तब तो बहुत ही भद्दा लगता है—

'वन-पर्वत-नद-नदी आदि सब'

यहाँ तीन जगह डंडा भद्दा लगता है। ऐसी जगह समास की जरूरत ही नहीं, सब शब्द अलग-अलग चाहिए। यदि दो से अधिक शब्द एक जगह हों, तो समास-सूचक चिन्ह उपयुक्त स्थान पर एक ही जगह ठीक रहेगा—

'पापपुण्यफल-दाता, या 'पापपुण्य-फलदाता' ठीक होगा; न कि—

'पाप-पुण्य-फल-दाता'

यहां तीन चिन्ह देने से स्पष्टता भी दब जाती है।इसी तरह—

'विरहविथा-दाध्यो तनु वाको'

चाहिए। ऐसा ठीक न होगा—'विरह-विथा-दाध्यो तनु वाको'।

इस तरह की साधारण बातें अनेक हैं; जो रचना को न यनाभिराम या उद्वेजक बना देती हैं। विराम-चिन्हों का जिक्र भी हिन्दी-व्याकरणों में होने लगा है; इस लिए हमने भी यहां यह प्रासंगिक बात लिख दी।

और कोई विशेष बात इस प्रसंग में कहने को नहीं है।

——:——

दशम अध्याय

प्रकीर्णक

—:※:—

इस अध्याय में हम संक्षेप से डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के 'ब्रज-भाषा व्याकरण' पर विचार करेंगे । इसलिए, अध्याय को पुस्तक का परिशिष्ट ही समझना चाहिए ।

इस पुस्तक पर विचार करना इसलिए जरूरी है कि छात्रों में भ्रम न उत्पन्न हो, कहीं कुछ और कहीं कुछ देख कर । यदि किसी और की लिखी पुस्तक होती, तो मैं छोड़ भी देता, उपेक्षा कर जाता । परन्तु डाक्टर वर्मा जैसे विद्वानों की कलम चिन्तन चाहती है ।

यह पुस्तक लिख चुकने के बाद डाक्टर वर्मा की उक्त पुस्तक देखने को मिली, जिसे मैं 'व्याकरण' न कह कर उन शब्दों की एक लम्बी सूची कहना चाहूँगा, जो ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। फिर भी विचार करना आवश्यक है । उस शब्द-सूची के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहने को है; पर यहाँ केवल व्याकरण-सम्बन्धी बातों का दिग्दर्शन पर्य्याप्त है ।

कर्ता को करण

डाक्टर वर्मा ने भूतकाल की सकर्मक क्रिया के कर्ता को सब जगह 'करण' कारक समझ रखा है और ऐसा ही इस पुस्तक में सैकड़ों जगह लिखा है ! 'कह्यो तिय को जिन कान कियो है' यहाँ 'जिन' को डाक्टर' वर्मा ने करण कारक लिखा है और इसी तरह सर्वत्र इस प्रकार के कर्ता की दुर्गति की गयी है, बिरादरी से खारिज करके। ऐसी भद्दी भूल कोई साधारण विद्यार्थी करता और दो-चार बार करता, तो भी कोई बात न थी। पर, डाक्टर वर्मा ने पुस्तक भर में सर्वत्र ऐसा ही लिखा है। और यह दोष उन हिन्दी-व्याकरणों का है, जो ने' आदि विभक्तियों को ही कारक समझ बैठे हैं। ऐसे व्याकरणों से भ्रम बढ़ा है। परन्तु 'ने' विभक्ति तो कभी भी करण कारक में लगती ही नहीं, न किसी अन्य कारक में। यह तो केवल कर्ता कारक में लगती है। तब भ्रम कैसे हुआ ? यदि 'से विभक्ति होती, और उससे भ्रम हो जाता, तब भी कुछ कहा जाता। 'मुझ से उठा नहीं जाता' या 'राम से पुस्तक पढ़ी नहीं जाती' इन वाक्यों में 'से' से कर्ता को करण मान बैठने की गलती शायद बच्चे कर दें; क्योंकि करण में भी यह लगती है। पर 'ने' विभक्ति की सत्ता में, या उसके विषय में, भ्रम कैसा ? 'जिन कान कियो है' में 'ने' विभक्ति लुप्त है।

डाक्टर साहब को यह भ्रम हिन्दी-व्याकरणों की उस ऊल-जलूल 'विवेचना' के कारण हुआ है, जिसमें कर्मवाच्य क्रिया

समझाते हुए लिखा है—

'जब कर्ता करण कारक में और कर्म कर्ता कारक में आ जाता है, तब क्रिया 'कर्मवाच्य' कहलाती है !'

इसलिए, यह दोष डाक्टर साहब का ही नहीं है, उन सभी व्याकरणों का है, जो शिक्षा-विभाग में चालू हैं।

कुछ और उदाहरण लीजिए, जहां वर्मा जी ने कर्ता को करण समझा है और लिखा है—

'अतिहिं कृपणि तैं है री'

'तैं बहुतै निधि पाई'

'तैं पायो हरि-हीरा'

'तैं कीन बहुत अपराध'

'तिन कही ही सो बात'

'कहि कौने सचु पायो' इत्यादि।

तैं, तिन, कौने को, डाक्टर साहब ने 'करण' कारक लिखा है। इसी तरह कहीं-कहीं 'कर्ता को कर्म कारक भी आपने लिखा है। 'मो देखत सब हँसत परस्पर' यहाँ 'मो' को कर्म कारक डाक्टर वर्मा ने लिखा है। अर्थ शायद समझा हो—'मुझे देखते देखते' परन्तु अर्थ है—'मेरे देखते-देखते'। मैं उनकी ओर देख रहा हूँ और वे सब मिल कर हँस रहे हैं। सो, 'मो' कर्ता कारक है 'देखने' का। कर्म कारक नहीं है। इसी तरह कारकों में गड़-बड़ है। 'जाहि शास्त्र-रूपी नेत्र नाहीं, सो आँधरो है' यहाँ 'जाहि' सम्बन्ध है; पर वर्मा जी ने इसे कर्म-कारक समझा है।

वर्तमान काल और सम्भावना आदि

डाक्टर वर्मा ने लिखा है कि वर्तमान काल के क्रिया-रूप होइ. करहि, पढ़ै आदि का प्रयोग सम्भावना तथा आज्ञा आदि में भी होता है।

डाक्टर सक्सेना ने भी अपने 'भाषा-विज्ञान' में लिखा है कि वर्तमान काल की क्रियाओं का प्रयोग आज्ञा आदि में होता है।

सो, इन दोनों विद्वानों को भारी भाषा-भ्रम हुआ है। वर्तमान काल की क्रिया भिन्न है और आज्ञा-सम्भावना आदि में काम आनेवाली भिन्न। दोनों का ऊपरी रूप एक देख कर एक ही चीज समझने की गलती हुई है। कपूर और शोरे के रँग रूप में अभेद होने के कारण दोनों एक चीज नहीं समझे जा सकते। वैद्य यह न कह देंगे कि कपूर की जगह शोरा भी काम में लाया जा सकता है। सुगन्ध तथा प्रभाव आदि दोनों चीजों में भेद बतावेंगे। वर्तमान काल की क्रियाएँ अलग हैं और आज्ञा-सम्भावना आदि की अलग; यद्यपि रूप समान हैं।

हम इस पुस्तक में लिख चुके हैं कि—

'करै विधि या जग को विस्तार' (वर्तमान)

तथा—

'करै न कबहुँ वंचक की परतीति' (विधि)

पढ़ै तब भले बाल यह हठी (सम्भावना)

पढ़ै सो बालक अब इत आय (आज्ञा)

इन (विधि, सम्भावना, आदि की) क्रियाओं में अन्तर

है। वर्तमान काल में जो प्रत्यय है, उससे भिन्न यहाँ—विधि-आज्ञा-सम्भावना आदि में—लगा हुआ 'इ' प्रत्यय है।

वर्तमान काल में मूल धातु में प्रत्यय की तरह जो 'इ' लगी है, सो सहायक क्रिया 'है' का संक्षिप्त रूप है—'हि'। 'राम करहि सब काज'—राम सब काम करता है। 'हि' के 'ह' का लोप—'राम करइ सब काज'। फिर धातु के 'अ' में और आगे की 'इ' में सन्धि हो कर 'ऐ'—'राम करै सब काज'। इस प्रकार तीनों (करहि, करइ, करै) रूप प्रचलित हैं, वैकल्पिक हो कर। तीनों में 'है' वर्तमान काल की क्रिया संक्षिप्त हो कर और अलक्षित रूप से विद्यमान है। इस रूप से विधि, आज्ञा या सम्भावना की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। आज्ञा आदि मे प्रयुक्त 'इ' प्रत्यय भिन्न है। यह उस 'है' का संक्षिप्त रूप 'इ' नहीं है।

विधि और आज्ञा आदि में होइ, पढ़ै, करै आदि जो प्रयोग होते हैं, सो विध्यर्थक 'इ' प्रत्यय से हैं। यह 'इ' संस्कृत के 'पठेत्' 'भवेत्' आदि के 'इ' से बनी है। संस्कृत के इस 'इ' में विधि आदि का अर्थ देने की शक्ति है, जो हिन्दी में गृहीत हुई है। खड़ी बोली में भी—करे, पढ़े, बरसे. आदि में यही 'इ' है। इसी रूप-सादृश्य से डाक्टर वर्मा तथा डाक्टर सक्सेना भ्रम में पड़ गये हैं। व्याकरण में और भाषा-विज्ञान में ऐसा भ्रम उपेक्षणीय नहीं है।

सारांश यह है कि वर्तमान काल की 'करै-पढै' आदि क्रियाओं से आज्ञा की 'करै-पढै' आदि भिन्न हैं। दोनों को एक मान

लेना और यह लिख देना कि वर्तमान काल की क्रियाओं से आज्ञा आदि का काम लिया जाता है; ऐसा ही है, जैसे कोई कहे कि 'पट्टी पर लिखने का काम बच्चे खड़िया के बदले कपूर से लेते हैं।' एक का काम दूसरा कैसे करेगा ? 'यावन्तोऽर्थास्तावन्तः शब्दाः' जितने अर्थ, उतने ही शब्द। एक शब्द का अनेक अर्थों में संकेत हो ही नहीं सकता। उससे तो भ्रम बढ़ेगा। हाँ, किसी तरह रूप-सादृश्य हो सकता है। परन्तु अर्थरूपी सौरभ तो भेद बतला ही देता है। इस भेद के होते हुए अभेद कैसे कहा जायगा !

संस्कृत के 'पठेत्' आदि रूपों से विधि, आज्ञा, सम्भावना, प्रार्थना आदि की अभिव्यक्ति होती है और इन्हीं सब अर्थों की 'पढ़ै' (खड़ी बोली 'पढ़े') आदि हिन्दी-रूपों से। जब संस्कृत का 'इय्' ही हिन्दी में आ कर 'इ' बना है और 'पढ़ै' आदि में विद्यमान है, तब वे सब अर्थ देगा क्यों नहीं ! कोई आदमी अपना ऊपरी रूप चाहे जितना बदल ले; पर इससे उसकी प्रकृति तथा शक्ति आदि में क्या अन्तर आ जायगा ?

यों सब स्पष्ट और साफ है।

संज्ञा-विभक्ति में भ्रम

क्रिया-विभक्ति की ही तरह संज्ञा-विभक्ति में भी डाक्टर वर्मा को भ्रम हुआ है। एक सज्ञा-विभक्ति है—'हिं'। कभी-कभी इस के अनुस्वार का लोप हो जाता है और 'हि' रह जाती है। 'हिं' और 'हि' के ये वैकल्पिक रूप हिन्दी में खूब प्रचलित

हैं—अवधी में, ब्रजभाषा में और कहीं-कहीं अलक्षित रूप से खड़ी बोली में भी (मुझे, तुझे, हमें, तुम्हें)

यह 'हि' या 'हिं' विभक्ति अपनी अलग सत्ता रखती है और कर्म आदि कारकों में प्रयुक्त होती है। क्रिया-विभक्ति (वर्तमान काल की) 'हि' से इस का कोई सम्बन्ध नहीं, कोई वास्ता नहीं। यह संज्ञाविभक्ति 'हिं' या 'हि' किसी क्रिया से बनी है, ऐसा समझ में नहीं आता। यह प्राकृत-अपभ्रंश आदि से होती हुई आई है। इस विभक्ति के सम्बन्ध में भी डाक्टर वर्मा को भ्रम है। विभक्ति को आप 'परसर्ग' कहते हैं। डाक्टर सक्सेना ने भी 'परसर्ग' ही नाम रखा है। सो, इस से हमें कोई मतलब नहीं, कुछ भी कहें। भ्रम की बात देखिए। डाक्टर वर्मा 'ब्रजभाषा-व्याकरण' में लिखते हैं—

"कर्म-सम्प्रदान एक वचन में परसर्ग-रहित 'तोहिं' और 'तोहि' वैकल्पिक रूप बराबर मिलते हैं।"

जब कि 'हिं' तथा 'हि' स्वयं 'परसर्ग' हैं, तब ऐसा लिखना कैसा? 'तोहि' परसर्ग-रहित कैसे?

हिन्दी में व्यञ्जनान्त धातु

हिन्दी में सब धातु स्वरान्त हैं, कोई भी व्यजनान्त नहीं—पढ़ना, करना, उठना, बैठना आदि क्रियाओं की पढ़, कर, उठ, बैठ धातुएँ अकारान्त हैं। डाक्टर वर्मा ने इन्हें व्यंजनान्त माना है! तब तो आगे 'त' प्रत्यय होने पर कर्त, उठ्त, बैठ्त आदि रूप होने चाहिए। और इसी तरह 'न' प्रत्यय होने पर उठ्नो

(उठ्ना), बैठ्नो (बैठ्ना) आदि रूप होंगे ! ठीक है ? आप कहेंगे, धातुओं के रूप व्यंजनान्त मान कर फिर कृदन्त 'त' नहीं, 'अत' प्रत्यय कर लेंगे और 'न' की जगह 'अन'। ठीक, कर लीजिए। पर यह गोरखधन्धा है किस लिए; जब कि 'पढ़ना' में 'पढ़' धातु स्पष्ट अकारान्त दिखायी दे रही है ! 'त' की जगह 'अत' और 'न' की जगह 'अन' की जरूरत क्या ? और फिर छूना (छू), आदि धातुओ को क्या करेंगे ? 'अत' और 'अन' 'प्रत्यय करके फिर इन (प्रत्ययों) के 'अ' का लोप करेंगे, तब 'छूता है' 'छूना है' आदि रूप बनेंगे ! यह गड़बड़-सड़बड़ क्यों ?

वस्तुतः डाक्टर वर्मा ने न तो हिन्दी की प्रकृति पर कुछ विचार किया है, न प्रश्नों पर। प्रत्ययों की कोई कल्पना ही उन्होंने नहीं की ! तभी तो मैं आपके 'ब्रजभाषा व्याकरण' को एक लम्बी शब्द-सूची मात्र कहता हूँ।

वाच्य-भ्रम

जैसा कि इस पुस्तक की भूमिका में लिखा गया है, हिन्दी-व्याकरणों के लेखक 'वाच्य' जैसी सरल और सीधी बात समझने में भी असमर्थ रहे हैं; यद्यपि यह सब दूसरों को समझाने के लिए सैकड़ों पन्ने रँग डाले गये हैं। इसी लिए डाक्टर वर्मा तथा डाक्टर सक्सेना जैसे विद्वान् भी भ्रम में पड़ गये हैं। इस आफत से बचने के लिए डाक्टर वर्मा अपने 'ब्रजभाषा व्याकरण' में चुप्पी साध गये हैं ! वाच्य-प्रकरण में न कर्तृवाच्य का खुलासा किया है, न भाववाच्य का। केवल दस-बारह लाइनों

में यह लिख दिया है कि अमुक अक्षर लगाकर कर्मवाच्य के रूप बहुत देखने में आते हैं। सो, यह भी सही नहीं। भाववाच्य रूप को डाक्टर साहब ने कर्मवाच्य समझ लिया है। देखिए, उनके शब्द:—'ब्रजभाषा में 'य' लगाकर बने हु एसंयोगात्मक कर्मवाच्य रूपों का प्रयोग काफी मिलता है; जैसे—

'आँखी भरि देखिबे की साध मरियतु है।"

"ऐरावत गज सो तौ इन्द्रलोक सुनिये।"

"नैननि कौं तरसैये कहाँ लौं।

बड़े अक्षरों में दी हुई क्रियाएँ वर्मा जी ने कर्मवाच्य मानी हैं, जो हैं वस्तुतः भाववाच्य। इनके रूप सदा ऐसे ही रहेंगे, कर्म के अनुसार बदलेंगे नहीं। कर्म चाहे जिस लिङ्गवचन का हो, क्रियाएँ सदा इसी तरह रहेंगी। देखिए—

'सुधा तौ सदा ही इन्द्रलोक माहि सुनिये'

'गोपी सबै बावरी भई ऐसी सुनिये'

'गोपिन धौं तरसैये कहा लौं'

इसी तरह कर्म मे चाहे-जैसा परिवर्तन कर देने पर भी 'सुनिये' 'तरसैये' आदि क्रियाए ज्यों की त्यों रहेंगी। सब तरह के कर्ता और कर्म होने पर भी इनके रूपों में (उनके अनुसार) कोई परिवर्तन न होगा। 'मरियतु है' को कर्मवाच्य बतलाना तो बहुत ही बेतुका रहा। कारण, 'मरना' क्रिया तो बिलकुल अकर्मक है। जब कर्म है ही नहीं, तब उसके अनुसार (कर्म-वाच्य) क्रिया की कल्पना कैसी?

डाक्टर वर्मा ने कुछ शब्द-प्रयोग भी बड़े विचित्र किये हैं। 'ध्वनि' के बहुवचन को सदा आपने 'ध्वनिएँ' लिखा है! होता है—ध्वनियाँ, बुद्धियाँ आदि। इसी तरह 'प्रत्यय' का प्रयोग आपने स्त्रीलिंग में किया है—'प्रत्ययें'। यह सब उन्होंने किस उद्देश्य से और किस आधार पर किया है, कहा नहीं जा सकता।

वर्मा जी ने और सक्सेना साहब ने भी संख्या-वाचक 'छह' शब्द को सदा 'छः' लिखा है। साधारण जन ऐसा लिखें, तो क्षम्य हैं; पर व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान में ऐसे विद्वान् इस तरह शब्द-प्रयोग करें, तो चिन्त्य हैं। कारण, शब्दों पर विचार करने के लिए ही तो इस शास्त्र की उद्भावना है।

वस्तुतः यह शब्द 'छह' है, 'छः' नहीं। संस्कृत में इस संख्या का वाचक 'षष्' शब्द है, जिस के वहाँ 'षट्' आदि रूप बनते हैं। हिन्दी में व्यञ्जनान्त विशेषण, संज्ञाएँ या क्रियाएँ हैं ही नहीं। सब स्वरान्त हैं। जो बने-बनाये 'तत्सम' शब्द विद्वान्-बुद्धिमान् आदि आये हैं, उनकी अलग बात है। सो, संस्कृत का षष्' हिन्दी में अकारान्त 'षष' हो गया। मूर्द्धन्य 'ष' हिन्दी में 'दन्त्य' 'स' हो ही जाता है— षष्ठि-साठ, वर्षा-बरसा। यों 'षष' हो गया 'सस'। फिर अन्तिम 'स' बन गया 'ह' और आद्य 'स' हुआ 'छ'। 'षष्' से यों हुआ 'छह'। 'स' का 'ह' हो जाना प्रसिद्ध ही है—इकसत्तर-इकहत्तर, द्विसत्तर-बहत्तर आदि। इसी 'छह'

को भूल से लोग 'छः' लिख देते हैं।

आप कहेंगे कि विसर्गान्त 'छः' लिखने में क्या हानि है? 'सस' के अन्तिम 'स' को विसर्ग ही क्यों न मान लें? उत्तर है, नहीं। ऐसा नहीं माना जा सकता। घर का राज्य नहीं है। ठेठ हिन्दी शब्दों मे कहीं विसर्ग नहीं हैं। जो सस्कृत से तत्सम शब्द 'प्राय:' आदि आये हैं, उन्हीं में विसर्ग हैं। इसलिए, संख्या-वाचक इस शब्द में विसर्ग की कल्पना प्रामाणिक या प्रवाह-प्राप्त नहीं है। और, यदि आप जिद करें, 'ह' की जगह विसर्ग रखने की, तो फिर हम आप से कहेंगे कि इस शब्द का समुच्चय में प्रयोग कीजिए; देखें कैसे करते हैं। क्या आप—'छः ओ' आदमी आ गये, ऐसा लिखेंगे? जब कि—'छहो आदमी आ गये' आदि में 'ह' के बिना काम नहीं चलता, तब विसर्ग का व्यर्थ बखेड़ा क्यों?

वस्तुतः जन-साधारण में 'ह' के स्थान पर विसर्ग देने की प्रवृत्ति इसलिए हुई कि इन दोनों का उच्चारण-स्थान ही नहीं, बल्कि उच्चारण भी लगभग एक ही है। इसीलिए, गलती से 'ह' की जगह विसर्ग देने लगे। पर 'छहो' में आकर सब भेद खुल जाता है।

'ह' को विसर्ग समझ लेने की गलती डाक्टर रमाशंकर शुक्ल रसाल ने भी की है। प्रसंग-प्राप्त किस्सा है, सुन लीजिए।

डाक्टर रसाल की रस-अलंकार सम्बन्धी पुस्तकें सम्मेलन-परीक्षाओं में चलती हैं। मुझे भी एक छात्र को पढ़ानी पड़ीं। इन

पुस्तकों में लक्षण-उदाहरण तो सब गलत हैं; पर भूमिका में संस्कृत के मम्मट आदि पर विचार है। सोचा, जिस के लिखे ये लक्षण उदाहरण हैं, भूमिका के विचार उसके नहीं हो सकते; भले ही अस्त-व्यस्त हों। आगे बात खुल ही गयी। चोरी पकड़ी गयी।

डाक्टर रसाल ने आचार्य 'भामह' का नाम सर्वत्र 'भामः' यों विसर्ग-युक्त लिखा है। संस्कृत के मामूली ग्रन्थों में भी 'यत्तु भामहेनोक्तम्' ऐसा जगह-जगह उल्लेख है। यदि किसी ने भामह के ग्रन्थ न भी पढ़े हों; पर दूसरे साहित्य-ग्रन्थ देखे हों, तो समझ लेगा नाम 'भामह'।

परन्तु डाक्टर रसाल ने किसी अंग्रेज विवेचक का ग्रन्थ अंग्रेजी में पढ़ा होगा। वहाँ भामह का नाम 'BHAMAH' आप ने पढ़ा होगा। उच्चारण-सादृश्य से आप ने H से समझ लिया कि 'भामः' नाम है। संस्कृत के विसर्ग नामी हैं ही। सो, आप ने सर्वत्र बेचारे 'भामह' के नाम की दुर्गति कर डाली—'भामः' करके। हिन्दी के छात्र उसका नाम 'भाम' समझेंगे!

सारांश यह कि भ्रम से 'ह' को लोग विसर्ग समझ बैठते हैं। परन्तु उच्च कोटि के विवेचकों को जब ऐसा भ्रम होता है, तब अक्षम्य है; क्योंकि उनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है।

उपसंहार

बस, इसी तरह की बातें डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के 'व्रजभाषा व्याकरण' में हैं। इनकी हम उपेक्षा कर देते और जरा भी विचार इन पर न करते, यदि किसी साधारण जन की कृति

होती। परन्तु ऐसे प्रामाणिक विद्वानों की कलम 'बाअसर' होती है। उसका जनता पर प्रभाव पड़ता है। इसी लिए इतना लिखा गया। सो, यह नमूना ही समझा जाय। इसका मतलब यह न लगाइए गा कि जिन बातों का उल्लेख यहाँ हुआ है, उनके अतिरिक्त वर्मा जी के 'व्रजभाषा-व्याकरण' का शेष अंश मैं ठीक समझता हूँ।

२ एक नई उलझन

हमने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि हिन्दी की उत्पत्ति सीधे संस्कृत से नहीं; बल्कि प्राकृत-अपभ्रंश से है। अभी तक भाषा-विज्ञान के पश्चात्य विद्वानों ने ऐसा ही लिखा है, और उन के आधार पर हिन्दी में भी जो कुछ निकला है, उसमें इसी मत का पोषण है। हमने भी भूमिका में यही और ऐसा ही लिखा है। परन्तु आगे चल कर जब व्रजभाषा पर तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों पर विचार किया, तब समस्या कुछ उलझी दिखायी दी। अनेक ऐसे कारण सामने आये, जो कि प्राकृत-अपभ्रंशों से हिन्दी को पृथक् करते हैं, धारा ही दूसरी बतलाते हैं। इन पर हमें विचार करना है। भाषा-विज्ञान के पंडितों के सामने हम विचारार्थ वे कारण थोड़े में रखते हैं; बल्कि उनमें से कुछ।

क्रिया का कृदन्त रूप

हमने इस पुस्तक में प्रतिपादन किया है कि हिन्दी में अधिकांश क्रियाएँ कृदन्त हैं, तिङन्त नहीं। ये कृदन्त क्रियाएँ संस्कृत से और संस्कृत-व्याकरण से बिलकुल मिल गयी हैं, जब कि

प्राकृत-अपभ्रंशों से मेल नहीं खातीं। वहाँ (प्राकृत और अपभ्रंशों में) तिङन्त क्रियाओं का जोर है। क्रियाओं का भाषा में प्राधान्य स्वीकृत है। इसी से भाषा-भेद होता है। जब कि प्राकृत-अपभ्रंशों के साथ हिन्दी का यह मौलिक भेद है, तब उन से इसकी उत्पत्ति कैसे? वर्तमान काल में—

'होति होन्ति' और 'पठति पठन्ति'

इस प्रकार प्राकृत–अपभ्रंशों में तिङन्त क्रियाएँ हैं, जो पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में समान-रूप रहेंगी। साथ ही, 'पुरुष' की भी अभिव्यक्ति इनसे होती है। 'होति' का प्रयोग उत्तम पुरुष में 'होमि' होगा, जो उत्तम-पुरुष कर्ता न बोलने पर भी स्पष्ट है। परन्तु हिन्दी में प्रायः सब जगह कृदन्त क्रिया है, जो स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग में (संज्ञा की तरह) रूप बदलती है और 'पुरुष'–अभिव्यक्ति के लिए 'कर्ता' की या सहायक क्रिया की अपेक्षा रखती है। देखिए—

'होता है–होते हैं' और 'पढ़ता है–पढ़ते हैं'

इनके स्त्रीलिङ्ग में रूप बदलेंगे, संज्ञा की ही तरह। कृदन्त क्रिया में ऐसा होता ही है—

'होता है–होती है' और 'पढ़ता है–पढ़ती है'।

इन कृदन्त क्रियाओं से 'पुरुष' प्रकट नहीं होता, जब तक कर्ता का या 'होना' सहायक क्रिया का प्रयोग न करें। राम, मैं, तू, तीनों के साथ 'पढ़ता' रहेगा। तभी काम चलेगा, जब कर्ता का निर्देश हो, या फिर 'होना' क्रिया का स्पष्ट प्रयोग हो। 'पढ़ता हूँ,

कहने से 'मैं' की जरूरत नहीं। कारण, 'हैं' क्रिया हिन्दी में तिङन्त है, जो सब की सहायता करती है। इस प्रकार यह साफ है कि प्राकृत-अपभ्रंशों से हिन्दी की क्रिया-धारा भिन्न है। तब सीधे वहाँ से इसका प्रादुर्भाव कहाँ तक बुद्धिग्राह्य है! अवश्य ही हिन्दी (ब्रजभाषा) में वर्तमान काल की कुछ क्रियाएँ तिङन्त हैं; पर कर्तृवाच्य नहीं, भाववाच्य—'कहियत, सुनियत' आदि। परन्तु ऐसी क्रियाएँ प्राकृत-अपभ्रंशों में प्रायः नहीं हैं।

इसी तरह भूतकाल में हिन्दी में केवल कृदन्त क्रियाओं का व्यवहार है। ये क्रियाएँ भी संज्ञा की तरह रूप-वचन आदि रखती हैं—ग्रन्थ पढ़ा, पुस्तकें पढ़ीं इत्यादि। प्राकृत-अपभ्रंशों में तिङन्त प्रयोगों की ही भरमार है, भूतकाल में भी। ये सब (तिङन्त) क्रियाएँ वहाँ कर्तृवाच्य होती हैं—

वालको अपठत्

बालका अपठन्

आप देखेंगे, कर्ता के अनुसार क्रिया के वचन हैं। कर्म का प्रयोग करने पर भी क्रिया कर्ता के ही अनुसार रहेगी। परन्तु हिन्दी में भूतकाल की सकर्मक क्रियाएँ कर्तृवाच्य होती ही नहीं। सब कर्मवाच्य या भाववाच्य होती हैं और 'ने' विभक्ति के साथ प्रयुक्त होती हैं। क्रिया कर्मवाच्य कर्म के अधीन रहेगी और भाववाच्य सदा पुल्लिङ्ग एक वचन, प्रथमा विभक्ति में। देखिए—

'राम ने लड़की देखी' (कर्मवाच्य)

'राम ने लड़की को देखा' (भाववाच्य)

कर्ता से क्रिया को कोई मतलब नहीं। इसी प्रकार सर्वत्र है। तो, प्राकृत-अपभ्रंशों के साथ क्रिया का यह मौलिक भेद हुआ।

भविष्यत्काल का तिङन्त रूप

हिन्दी में भविष्यत् काल की क्रिया का भी कृदन्त रूप है, तिङन्त से मिला हुआ। 'करेगा' 'करेगी' आदि में पुल्लिंङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में भेद है। कारण, 'गा' सहायक कृदन्त है। परन्तु धातु में जो 'इ' प्रत्यय लगा है, सो तिङन्त जरूर है। इस प्रकार यह मिश्रित रूप हुआ।

अलबत्ता 'करिहैं' 'पढ़िहैं' आदि तिङन्त क्रियाएँ हैं, जो लिङ्ग-भेद नहीं रखतीं और 'करिहौ' 'करिहौं' आदि में 'पुरुष' भी प्रकट करती हैं। यह 'इहैं' प्रत्यय संस्कृत आत्मनेपदी क्रिया के 'इष्ये' का घिसा हुआ रूप है, यह कह चुके हैं।

यों हिन्दी ने जब कोई तिङन्त प्रत्यय ग्रहण भी किया, तो आत्मनेपदी का, परस्मैपदी क्रिया 'करिष्यति' का 'इष्य' (इस) नहीं लिया। 'इस' का रूप 'इहैं' नहीं, 'इह' होता। सो, आत्मनेपदी का 'इष्ये' ही यहाँ 'इहैं' है।

इसके विपरीत प्राकृत-अपभ्रंश का प्रवाह है। वहाँ परस्मैपदी क्रियाओं की ओर अधिक झुकाव है। संस्कृत की आत्मनेपदी क्रियाएँ भी प्राकृत-अपभ्रंश में आकर परस्मैपदी हो जाती हैं। संस्कृत की 'बर्द्धिष्यते' का 'वड्ढिस्यति' रूप है 'वड्ढिस्यते नहीं। तो, स्पष्ट धारा-भेद है। एक धारा परस्मैपदी की ओर है,

दूसरी आत्मनेपदी की ओर। 'वृध' का 'बढ़' हो जाना दोनो जगह समान है, प्राकृत-अपभ्रंशों में और हिन्दी में। परन्तु क्रिया के रूप में स्पष्ट भेद है। 'वर्द्धिष्यति' तिङन्त और 'बढ़ेगा' कृदन्त तथा 'बढ़िहै' तिङन्त होने पर भी आत्मनेपद की धारा में। साथ ही 'इहै' प्रत्यय हिन्दी ने स्वतन्त्रतापूर्वक लिया। इसने संस्कृत की तिङन्त विभक्तियाँ 'ति' 'सि' 'मि' आदि नहीं लीं। 'करिहै' 'करिहौं' आदि के रूपों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, जब कि प्राकृत-अपभ्रंशों में संस्कृत की वे सब तिङन्त विभक्तियाँ स्पष्ट श्रुत हैं।

इसी तरह और भी अनेक बातें हैं, जो हिन्दी को प्राकृत-अपभ्रंश की धारा से अलग करती हैं। तब भाषा-विज्ञान का वह सिद्धान्त विचारणीय है कि नहीं?

एक बात कही जा सकती है कि 'प्राकृत-अपभ्रंशों का जो रूप पुस्तकों में मिलता है, सो असली नहीं है; साहित्यिक रूप है। सम्भव है, असली प्राकृत-अपभ्रंशों में ऐसे क्रिया-रूप हों, जो हिन्दी से मेल खाते हों और वे लुप्त हो गये हों।

यह युक्ति या उत्तर कुछ भी जोरदार नहीं। किसी भी साहित्यिक भाषा पर जब दूसरी समुन्नत भाषा का असर पड़ता है, तब उसके अपने क्रिया-रूप नहीं बदल जाते। माना कि प्राकृत-अपभ्रंशों के साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा होगा; पर इससे यह संभव नहीं कि क्रिया के रूप ही बदल गये हों। उर्दू पर फारसी-अरबी का प्रभाव पड़ा; पर क्रियाएं ज्यों की त्यों

अपनी रहीं –पढ़ता है, गाता है, बजाता है। बल्कि 'नफीस' या 'सलीस' उर्दू में क्रिया छोड़ कर शेष सब फारसी का ही रूप मिलेगा। इसी तरह हिन्दी के कुछ लेखकों पर इस युग में संस्कृत का बहुत प्रभाव है। उनकी हिन्दी संस्कृत संज्ञा-विशेषणों से भरी है। परन्तु क्रियाएं तो संस्कृत की नहीं, अपनी ही हैं। कोई भी संस्कृतानुरागी हिन्दी-लेखक 'राम कार्यं करोति' न लिखे गा। यही बात प्रत्येक भाषा के सबन्ध में है। सो, यह कहना गलत होगा कि प्राकृत-अपभ्रंशों पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा; इसलिए उनके साहित्य में वैसी (तिङन्त आदि) क्रियाएं संस्कृत के ढंग पर चल पड़ीं।

इस प्रकार विचार करने से जान पड़ता है कि प्राकृत-अपभ्रंशों की धारा से हिन्दी में भेद है, बहुत अधिक अन्तर है। इस मौलिक और आधारभूत अन्तर के होते हुए, केवल शब्द-विकास के ढँग को लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी की उत्पत्ति इसी धारा से है।

इस तरह, जहाँ तक मैं समझता हूँ, भाषा-विज्ञान के पण्डितों के लिए यह विषय विचारणीय है। मैंने सोचा कि क्या बात है; पर कुछ समझ में आया नहीं। हिन्दी की धारा—इसकी सरस्वती—संस्कृत की गंगा से और प्राकृत-अपभ्रंश की यमुना से स्पष्ट ही पृथक् दिखायी देती है; यद्यपि उसका कुछ पता नहीं लगता। जाने कहाँ आकर सूख गयी, या क्या हुआ!

हो सकता है, प्राकृत-अपभ्रंशों से ही इसका उद्गम हो।

परन्तु कुछ भ्रम तो पैदा हो ही गया है। सो, इतना यह भाषा-विज्ञान के पंडितों की सेवा में विचारार्थ उपस्थित किया गया, डरते-डरते। मन की बात मन में ही छिपा रखी जाय, तो महान् सारस्वत अपराध।

अन्तर केवल क्रियाओं के मौलिक रूपों में ही हो, ऐसा नहीं है। संज्ञा-विभक्तियों में भी स्पष्ट भेद है। प्राकृत-अपभ्रंशों में संस्कृत की ही विभक्तियाँ कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन कर के काम में लायी गयी हैं; परन्तु हिन्दी में प्रायः सब विभक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से हैं। हिन्दी की प्रच्छन्न विभक्ति (प्रथमा का एक वचन 'आ' या 'ओ') भी एक स्वतन्त्र चीज है, जो न संस्कृत में है, न प्राकृत आदि में।

ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी का उद्गम जिस अपभ्रंश से हुआ, उसे साहित्य में स्थान नहीं मिला और इसलिए उसका रूप हमारे सामने नहीं है। सभव है, मेरा यह अनुमान ठीक न हो। परन्तु विचारणीय विषय अवश्य है। एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि भूतकाल के 'य' प्रत्यय के प्रयोग में हिन्दी ने सस्कृत-व्याकरण का पूर्ण अनुगमन किया है, जो संस्कृत के 'त' (क्त) प्रत्यय का ही परिवर्तित रूप है। भेद इतना अवश्य होगया है कि हिन्दी में सकर्मक क्रियाओं के कर्मवाच्य के साथ-साथ भाववाच्य प्रयोग भी होते हैं, जब कि संस्कृत में (ऐसी क्रियाओं के) भाववाच्य रूप होते ही नहीं। प्रयोग में भी विशेषता है। 'खाना' क्रिया का भूतकाल में भाव-

वाच्य प्रयोग होगा. यदि पशु-राक्षस आदि कर्ता है—'शेर हिरन को खा गया'। परन्तु 'बालक ने रोटी को खाया' ऐसा न होगा। 'बालक ने रोटी खायी' ऐसा कर्मवाच्य होगा। इसी तरह वर्तमान काल में सकर्मक क्रियाओं के उभयथा प्रयोग हैं। संस्कृत-प्राकृत से यह भिन्न बात है।

३—पद-व्याख्या

पीछे जो कुछ कह आये हैं, उस सब सामग्री को एकत्र पदों में यदि देख लें और पद-व्याख्या करके परीक्षा कर लें, तो स्पष्टता अधिक आ जायगी। इसीलिए, यहाँ पर कुछ वाक्यों को रख कर व्याकरण की दृष्टि से पद-व्याख्या की जायगी।

१—वाको कह्यो सखि कौन सुनैगो ?

वाको 'वह' सर्वनाम का 'सम्बन्ध' में रूप है। 'वह' को 'वा' हो जाता है, जब कोई विभक्ति आगे हो—वाको, वामें इत्यादि। 'सम्बन्ध' यहाँ कर्तृ-क्रिया रूप से है। अर्थात् कर्ता कारक में ही सम्बन्ध-सूचक 'को' विभक्ति लगी है। यानी 'कह्यो' क्रिया का कर्ता 'वाको' है। परन्तु यह क्रिया कृदन्त है और संज्ञा की तरह प्रयुक्त है; इसलिए कर्ता में सम्बन्ध-विभक्ति लगी है। खड़ी बोली में भी ऐसी अवस्था में यही विभक्ति लगती है—'सखी, उसका कहा कौन सुनेगा ?' संस्कृत में भी—'तस्य कथितं कः श्रोष्यति ?' सब जगह सम्बन्ध में लगने वाली विभक्ति से कर्तृत्व प्रकट किया गया है।

कह्यो यह 'कह' धातु का कृदन्त रूप है। 'य' प्रत्यय भाव में है। भूतकाल का 'य' प्रत्यय यहाँ नहीं है; क्योंकि भूतकाल का हो, तब अन्य कालों से सामजस्य कैसे बैठेगा; जैसे—'जायो करैगो सकारे न तू जो।' यहाँ 'जायो' भूतकाल हो, तब भविष्यत् काल के साथ वह फिट कैसे बैठेगा? और भूतकाल में 'जा' को हिन्दी में 'ग' हो जाता है; या 'ग' का प्रयोग 'जा' के बदले होता है। 'जा' भूतकाल के 'य' प्रत्यय मे रही नहीं सकता; जैसे—'गयो सो समै न अब आवै।' यहाँ 'गयो' में 'य' भूतकालिक प्रत्यय है और कर्तृवाच्य है। परन्तु 'जायो करैगो राम वतै नित' या 'वाको कह्यो सखि कौन सुनैगो' में 'य' प्रत्यय भाववाच्य है। यह (भाववाच्य 'य' प्रत्यय) सदा पुल्लिङ्ग एक वचन में प्रयुक्त होगा, कर्ता-कर्म आदि चाहे जैसे हों। देखिए—

'सखी को कह्यो अब सो न सुनै गी'

'कह्यो गोपीन को कान धरयो ना'

'मेरो कह्यो कछु चित न धरनि तू'

'मानौं तिहारो कह्यो सब जो मैं, इत्यादि।

कृदन्त 'य' प्रत्यय में व्रजभाषा की सञ्ज्ञा—विभक्ति 'ओ' सर्वत्र लगी है, पुल्लिङ्ग एक वचन। खड़ी बोली मे भी यही 'य' प्रत्यय इसी तरह भाववाच्य मे लगता है; पर वहाँ की 'आ' विभक्ति लगने पर अनेक स्वरवाली धातुओं से परे उस (य) का लोप हो जाता है। परन्तु भाववाच्य होने से पुल्लिङ्ग—एकवचन रहना अनिवार्य है। उदाहरण—

सखी का कहा अब वह न सुनेगी

गोपियों का कहा उसने कान न किया

मेरा कहा तू चित में नहीं जमाती।

तेरा कहा यदि सब मै मान लूँ।

यहाँ सर्वत्र 'य' का लोप है। इसी तरह 'देखा' 'सुना' आदि में (खड़ी बोली में) 'य' का लोप रहता है। परन्तु एक स्वर वाली धातुओं से परे 'य' बराबर रहता है, खड़ी बोली में भी—

'तू तो वहाँ जाया करेगी'

मै भी वहाँ जाया करता था

हम भी वहाँ जाया करेंगे

लडके पाठशाला जाया करते थे

लड़कियाँ मदरसे जाया करती हैं

कर्ता-कर्म चाहे जो हों, 'जाया' ज्यों का त्यों। 'य' भाव में है न ? सर्वत्र पुल्लिंग-एक वचन और सब कालों में, सब पुरुषों में, सब बचनों में बराबर अन्वय। भाववाच्य की यही विशेषता है। इसी तरह 'गाया करेगी' 'सोया करेंगे' 'धोया करेगी' इत्यादि सकर्मक-अकर्मक संयुक्त क्रियाओं में मुख्य क्रिया भाववाच्य 'य' प्रत्यय के साथ सदा एक रूप रहती है और अगली (सहायक) क्रिया में वह पुरुष, वचन, लिङ्ग दिया रहता है, जो प्रकट करना है। मुख्य क्रिया फिर वहाँ उसी रूप में अन्वित हो जाती है।

सो, हिन्दी-व्याकरणों में 'मैं सोया करूँगा' इत्यादि वाक्यों में 'सोया' आदि को जो सामान्य भूतकाल का प्रयोग बतलाया

गया है और छात्रों से पद-व्याख्या में वैसा जो लिखाया जाता है, सो सब गलत है। भूत का भविष्यत् के साथ सामंजस्य ही कैसे ? हमारे ऊपर के वाक्य में 'बतलाया' और 'लिखाया' में भाववाच्य 'त' नहीं है। ऐसी जगह (संयुक्त क्रिया में प्रेरणा से) भाव में, कर्म में या कर्मकर्तरि 'य' होता है, जिसका किसी विशेष काल से बन्धन नहीं।

इस तरह 'य' प्रत्ययान्त की पद-व्याख्या सोच-समझ कर करनी चाहिए।

'सखि' सम्बोधन है, सखी संज्ञा का। 'कौन' तथा 'सुनैगो' को व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं है। दूसरा वाक्य लीजिए—

२—'देखी मैंने जग की रीति'

उपर्युक्त वाक्य ब्रजभाषा और खड़ी बोली में समान है। 'देखी' यह भूतकाल की क्रिया है, कर्मवाच्य। 'रीति' कर्म है। उसी के अनुसार क्रिया स्त्रीलिङ्ग है। 'मैं' कर्ता पुल्लिंग और स्त्रीलिङ्ग-दोनों जगह हो सकता है; अतः सन्देह मिटाने के लिए बदल कर देख लीजिए—'राम ने देखी जग की रीति' 'नरनि ने देखी जग की रीति' कर्ता पुल्लिङ्ग होने पर भी क्रिया स्त्रीलिङ्ग है। यदि कर्म पुल्लिङ्ग कर दें, तो क्रिया भी वैसी ही हो जायगी, भले ही कर्ता स्त्रीलिङ्ग क्यों न हो—'सखी ने देख्यो वाको प्रेम'। यहाँ 'देख्यो' क्रिया पुल्लिङ्ग है; क्योंकि कर्म 'प्रेम' पुल्लिङ्ग है। खड़ी बोली में भी ऐसे ही प्रयोग होते हैं; केवल पुल्लिङ्ग एकव-

चन में यह अन्तर है कि 'आ' परे होने से 'य' का लोप हो जाता है—'सखी ने देखा उसका प्रेम'। एकस्वर वाली धातु में तो खड़ी बोली भी 'य' रखती है —'किया तू ने क्या उत्पात' 'किये मैंने सब अपराध'। दो इकारों के बीच में तो सदा ही 'य' का लोप होता है, (एकस्वर और बहुस्वर दोनों तरह की धातुओं से परे) 'की' 'पी' 'ली' आदि। परन्तु ऐसी एकस्वर धातुओं के भूतकाल में, व्रजभाषा में प्रायः 'न' प्रत्ययान्त प्रयोग अधिक होते हैं और यह भी कर्मवाच्य ही हैं —'काम कीनो'—'काम कीने' 'दान दीनो' 'वसन दीने' 'गौ दीनी' इत्यादि।

इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य में 'देखी' कर्मवाच्य कृदन्त 'य' प्रत्ययान्त है। 'य' का लोप है। हिन्दी-व्याकरणों में ऐसी क्रियाओं को 'कर्तृवाच्य' लिखने की आम गलती की गयी है और डाक्टर बाबू राम सक्सेना ने तो अपने 'भाषा-विज्ञान' में लिख दिया है कि हिन्दी में कर्मवाच्य क्रियाएँ हैं ही नहीं; गायब हो गयी हैं!

वाक्य के शेष पद व्याख्या की आवश्यकता नहीं समझते।

३—'देखनो है मेरो अपराध'

'देखनो' भाववाचक संज्ञा 'देख' धातु से कृदन्त 'न' प्रत्यय लग कर बनी हैं। व्रजभाषा की प्रथमा विभक्ति 'ओ' साथ में है। खड़ी बोली में भी यह प्रत्यय इसी रूप में आता है; केवल विभक्ति वहाँ 'आ' लग जाती है—'देखना है मेरा अपराध'। भाववाच्य होने से इस प्रकार की क्रियाएँ या संज्ञाएँ सदा

पुल्लिङ्ग एक वचन रहेंगी, कर्ता चाहे जैसा हो—

'देखनो उनको हमें न भावै'

'देखनो रानी को नीको'

'देखनो मधुर तिहारो अहो'

इन वाक्यों में 'उनको' 'रानी को' तथा 'तिहारो' इस तरह विभिन्न-रूप कर्ता सम्बन्ध-सूचक विभक्ति के साथ हैं; पर क्रिया वही 'देखनो' है। खड़ीवोली में इसी तरह सदा 'देखना' रहेगा। ब्रजभाषा और खड़ी वोली में कृदन्त प्रत्यय एक ही है; केवल संज्ञा-विभक्ति (ो–ा) का अन्तर है। 'देखनो' के साथ 'अपराध' का सामानाधिकरण्य है—देखना ही अपराध है।

४—'देखिबो हरि जू को मोहिं भावै'

'देखिबो' भाववाचक संज्ञा कृदन्त 'ब'–प्रत्ययान्त। यह प्रत्यय खड़ी वोली में नहीं आता। 'तेरो देखिबो' 'जननी कौ देखिबो' आदि कोई भी कर्ता हो, 'देखिबो' ज्यों का त्यों रहेगा।

जिन की जन्मभूमि की भाषा,
है इस पुस्तक का अभिधेय।
पारिश्रमिक रूप से अब वे,
हम को दे वह सुन्दर श्रेय।

❀ समाप्तम् ❀

आचार्य मम्मट और उनका काव्यप्रकाश

संस्कृत साहित्य में आचार्य मम्मट का बहुत ऊँचा स्थान है। यह इसी से समझिए कि अन्य आचार्यों ने आप को 'वाग्देवतावतार' कहा है। आचार्य मम्मट की लेखनी में जैसी गम्भीरता है, वैसी ही विलक्षणता है। आपका 'काव्य-प्रकाश' संस्कृत-साहित्य में बे-जोड़ ग्रन्थ है, जिसके आधार पर 'साहित्य-दर्पण' आदि न जाने कितने ग्रन्थ बने हैं।

वाजपेयी जी की उपर्युक्त पुस्तक (मम्मट और उनका काव्य-प्रकाश) हिन्दी में अपने ढंग की प्रथम पुस्तक होगी। इसमें आचार्य मम्मट का व्यक्तित्व और पाण्डित्य तथा उनके 'काव्य-प्रकाश' पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार देख कर साहित्यप्रेमी अवश्य मुग्ध होंगे। बहुत से सन्दिग्ध और विवादास्पद विषयों की विशद विवेचना देखते ही बनेगी।

यह पुस्तक बहुत जल्दी प्रेस में दी जानेवाली है। मूल्य लगभग तीन रुपये होगा; पर प्रकाशन से पहले-पहले एक रुपया अगाऊ भेज कर जो ग्राहक बन जायँगे, उन्हें पौने मूल्य में दी जायगी। पत्र-व्यवहार का पता—

हिमालय एजेंसी (साहित्य विभाग), कनखल (सहारनपुर)